प्राच्य-शिक्षा रहस्य

BY

पं० हरिदत्त शास्त्री विद्यारत्न
टिहरी गढ़वाल

द्वितीय संस्करण

संशोधित और संवर्धित

Prachya Shiksha Rahasya.

BY

Pandit Haridatta Shastri,
Inspector of Schools and Super-
intendent of Temples
Tihari State, Garwal.

1922.

लखनऊ

केसरीदास सेठ द्वारा,
नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित और प्रकाशित.
सन् १९२२ ई०

मङ्गलाचरणम्

तथा

उद्देश्य.

नमः सच्चित्स्वरूपाय तज्जलानीति रूपिणे ।
सर्वाधाराय नित्याय शिवाय प्रणवात्मने ॥

वेदैः सांगैरौपनिषज्ज्ञानयुतोसौ विद्वद्वर्य्यः श्रीयुतदामोदरदत्तः गण्यो मान्योदारचरित्राचरणो यत्पुत्रो धीमान् कृष्णयुतो दत्तपदान्तः ।

श्रीकृष्णदत्ततनयो हरिदत्तशास्त्री श्रीकृष्णदत्तमतिभाविभवावतंसः । श्रीकीर्तिशाह नृपवर्य्यनियोगलब्धः शिक्षाविभागगतसर्वप्रधानमानः ॥

स्मारं स्मारं वेदविदाचारपवित्रीभूतामेतामाभरणं भारतभूमिम् विश्वस्यैवं सर्वजनीनामधुना यत् दृष्ट्वा सर्वस्वानुभवं तत्कथयामि ॥

यावत्पूर्वाचारसमीरोत्थितशीलप्रेमाभ्राणां सज्जननाशयभूमिः, धारावर्षैः शौचमुखैः सिञ्चितगात्रा तावन्मोदं नैतिमनोज्ञमयूरः ॥

शिक्षासाध्यं सर्वमवैमीति विलग्नं चित्ते विद्याभ्यासरतानां हितकार्ये सच्छास्त्राणां सम्मतिमाश्रित्य गिरा तन्नृणां ब्रूयां छात्रवृन्द तद्धितकामः ॥

विज्ञापन।

इस प्राच्य-शिक्षा रहस्य लिखने का प्रयोजन यह है कि भारतवर्ष को शास्त्र ने कर्मभूमि बताया है कर्तव्यकर्मों का ज्ञान और आचरण करने से ही मानवजीवनी का सौन्दर्य तथा देश, जाति का हित हो सकता है।

मनुष्यजाति में अनेक जन्मों का दृढ़ अभ्यास बना हुआ है कि इन्द्रियों की विषयवर्ती वृत्तियों के अधीन होकर कर्तव्य अकर्तव्य का विचार भूल जाना उस अभ्यास को बदल कर शास्त्रीयजीवन बनाना पुरुषार्थ कहा जाता है।

इसलिए जिन जिन बातों से मनुष्य का स्वाभाविक और अस्वाभाविक सम्बन्ध संसार से है सबसे प्रथम यह देखना कि यह सम्बन्ध धर्मपूर्वक है या केवल स्वार्थवश उन उन पर विचार कर अपना धार्मिक व्यवहार बनावे और वैसा वैसा अभ्यास डाले, केवल पुस्तकमात्र के पढ़ लेनेसे धार्मिक जीवन नहीं बनता बल्कि शास्त्रानुसार आचरण करने से वह जीवनी मिलती है इस प्राच्य-शिक्षा रहस्य में भारतवर्षीय-समुदाचार बनाने की शिक्षा मनु महाभारतादि ग्रन्थों से चुन चुन कर रख दी है, इसमें प्रधानतः प्रातःकाल से लेकर सम्पूर्ण दिनचर्य्या विद्यार्थियों का कर्तव्य विद्या के साधन पिता, पुत्र का सम्बन्ध भाई भाई का परस्पर व्यवहार राजा प्रजा का कर्तव्य, राजभक्ति शिष्टाचार, मानवधर्म, सत्य पालन,

सहानुभूति अस्तेय, भूगर्भ जलविज्ञान, धार्मिक भवननिर्माण, वृक्षारोपणविधि आदि विषय शास्त्रों से लेकर संनिवेश किये गये हैं। इसका जब प्रथम संस्करण हुआ उस समय अधिक पुस्तकें पंजाब स्टेटबुक कमेटी ने लेली और अवशिष्ट जिन्द रियाशत तथा सिन्ध प्रान्त आदि स्थानों में पाठ्य पुस्तक होकर निकल गई कई मित्रों की प्रेरणा से इसका द्वितीय संस्करण किया गया है इसमें संशोधन और कुछ बातों के संवर्धन करने का भी अवकाश मिला ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्कूल कालेजों के विद्यार्थियों को इसके पढ़ने से धार्मिक जीवनी का उदय हो जायगा ।

प्राच्य-शिक्षा रहस्य का सूचीपत्र ।

इति ।

* श्रीगणेशाय नमः *

उपोद्घातः

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥
सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते ॥

संसार में जितनी विधियां विस्तृत हैं जब तक उनका प्रयोजन न कहा जाय तब तक उन कर्मों में प्रवृत्ति श्रद्धा के साथ सब को नहीं होती, अतः प्रत्येक नियम एवं विधि के विस्तार करने के साथ साथ उसका फल और प्रयोजन कहीं व्यक्तरूप से कहीं अव्यक्तरूप से दिखलाना पूर्वाचार्यशैली है, इसलिए सत्कार्य में प्रवृत्ति असत् से निवृत्ति कराने के लिए ग्रंथ-निबन्धादिकों का प्रयोजन स्पष्ट करना चाहिए।

मनुष्यदेह का स्पन्दन दो प्रकार से होता है एक वह जो इन्द्रियों की गति अपने अपने विषय की ओर अनियम पर चलती जाती है उसको वैसीही चलने देना, दूसरा वह जो इन्द्रियों के विषयस्रोत को नियमितभाव से अपने अधीन कर चलना। यथा—

"वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" गीता

जिस ने इन्द्रियों को अपने वशवर्ति किया उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित (पूर्णतापर) है ।

इन्द्रियों को विज्ञान से विशुद्ध कर चलने को आचार कहते हैं इन्द्रियों * के अधीन विवश होकर चलना नरपशु गति है, इसलिए पूर्वाचार्यों ने अपने अनुभवद्वारा मनुष्य के सदाचार पर चलने का शिक्षासिद्धान्त आविष्कार किया है, अखिल मनुष्यजगत् तीन श्रेणियों में विभक्त है, जो कि पूर्वकर्माधीन गुणों का तारतम्य होना अनादि आर्यसिद्धान्त से सिद्ध है अतः शुभाशुभ कर्मों के अनुसार मनुष्य में धर्माधर्म के संस्काररूपी सूक्ष्म वीज भालपट्ट में अति सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहते हैं, मनुष्य को जिस प्रकार शिक्षा-संगति व्यवहारसौकार्यता मिलती है, उसी प्रकार (धर्मादि निखिल भावों के विद्यमान होने पर भी) वैसे वैसे भाव उसमें विकाश होते जाते हैं और अन्य जातीय तथा प्रतिपक्ष भाव मुर्झाते जाते हैं, निदान शुभ संस्कारों की विद्यमानता में भी अनियमाचारी अधर्म (दम्भ क्रौर्यादि) के फलों को उत्पन्न करता है इसी तरह अशुभ संस्कारों के होने पर भी नियमाचारी पुण्य (मैत्री करुणा मुदितादि) फलों का देनेवाला होता है यतः—

* " इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते " इन्द्रियों के क्षणिक सुख में निमग्न होकर परलोक को भूल जाना मिथ्याचार है ।

"उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभते वशः"

केवल पुण्यपरिपाक से देवयोनि होती है, प्रचुर पापराशि से नारकीय गति होती है। पुण्य और पाप (शुभाशुभ) मिश्रण होने से मनुष्यजन्म मिलता है, "अर्थात् मनुष्य में दोनों प्रकार के संस्कार विद्यमान रहते हैं इसलिए निरन्तर नियमाचरण की परमावश्यकता है, अन्यथा विपरीत संस्कारों के उदय होने से पद पद पर पतित होने का भय बना रहता है। किसी देह में पुण्य प्रबल होने से वे दैवीसंप्रदाय के मनुष्य होते हैं जो केवल गुरुवाक्य पर श्रद्धा करके शास्त्रीयानुशासन में प्रवृत्त होजाते हैं, कहीं पापराशि के अधिक होने पर आसुरीसम्प्रदाय के होते हैं उनमें अभिमान दम्भादिरोग इस प्रकार प्रबल होते हैं जिस से लज्जा, श्रद्धा, नम्रता, शास्त्र का उपदेशाचरणलेश शेष भी नहीं रहता, नियमाचरण करने से उनके भी उक्त मानसिक विषम रोग शान्त होजाते हैं।

जो मनुष्य केवल पुस्तकों को रटते * जाते हैं और नियमानुकूल आचरण करने का विचार नहीं रखते प्रथम तो उनमें सारस्वतवैभव का विकाश नहीं होता उनका

---

* यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवं तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम् । कासारे दिवसं वसन्नपिपयः पारं परं पङ्किलं कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं शौरिभः—

शुकवत् पठन ग्रामोफ़ोन के रिकार्ड कैसा है, फलतः जिन शास्त्रीय उपदेशों (विद्याओं) को गुरुमुख से श्रवण करे तदनुसार आचरण करना अपने शुद्ध संस्कारों को विकाश करना एवं विद्या की पराप्रतिष्ठा को प्राप्त होने का अनन्योपाय है, शब्दशास्त्र रहस्यवेत्ता महामुनि पतञ्जलि का उपदेश है " चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेन चेति " चार प्रकार से विद्या की उपयुक्तता होना उक्त महर्षि का अनुभव है अतः विद्या के नित्य मधुर दिव्य फल की प्राप्ति उक्त प्रकारों से प्राप्य है मनुष्य को त्रिगुणात्मक होने से उसके परिपाक की दशा विना इन नियमों के प्राप्त नहीं हो सकती।

अतः नित्य समाहितदशा नहीं रहती विना समाहित-दशा के कर्तव्याकर्तव्य का विचार अतिगहन है ऋग्वेद में स्पष्ट लिखा है—

"पुरुषविद्या नित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"

अर्थात् मनुष्यशरीर त्रिगुणात्मक होने से कभी किसी गुण की अधिकता कभी किसी की न्यूनता से आवरण विक्षेप हो जाते हैं जिस से निरन्तर विज्ञानदशा नहीं रहती अतः वेदादिसद्विद्याओं का उपदेश किया गया जिन के द्वारा मनुष्य पुनः विज्ञानदशा को प्राप्त हो जाता है मनुष्य में देश,

काल, संगति, भोजन, व्यवहारादि के सौकर्य से जो मलिन-भाव आजाते हैं उनके प्रक्षालन और उच्चभावों के विकाश करने को देश कालावस्थाभेद से शास्त्र ने नियमाचरण की शिक्षा दी है, प्राचीन इतिहासों से ज्ञात होता है। जो मनुष्य जितने उच्चकुल या उच्चपद के होते थे उनको उतनी ही उच्च-शिक्षा तथा नियम पर चलने का अधिक ध्यान दिलाया जाता था, कोई निम्न पुरुष किसी को कोई अपशब्द कह दे या अनुचित कर्म कर दे तो उसकी उतनी निन्दा नहीं होती जितने उच्चकुल या उच्चपदाधिकारी पुरुष के स्वल्प भी नीच कर्म करने से होती है अतः निरन्तर शिक्षा और नियम-मार्ग पर अग्रसर होने को आलस्य, प्रमाद त्याग कर जागरूक होना चाहिए जितनी उँचाई से गिरोगे उतनी ही अधिक चोट आ लगेगी। पूर्वकाल में बालक को नियम पर चलाना और उसकी मानसिक चंचलता को दूर करना यही प्राथमिक शिक्षा का सूत्रपात गिना जाता था, जिससे मनुष्य ज्ञानवान्, मृदुस्वभाव, सत्याचरण शील होते थे, बाल्यावस्था में जैसे संस्कार बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे गुण उसमें दुर्निवार होते हैं, नियमाचरण से ही मनुष्य के शुभसंस्कार दृढ़ होने से वह सदैश्वर्य, दीर्घजीवी और प्रसन्नचित्त रहता है इसीसे उस की मानसिक सत्ता प्रबल होकर मनोह्लादकारिणी होती है, संसार में जिसका चित्त दुःखी रहता है उससे बढ़ कर कष्ट किसी को नहीं,

जिस का मन प्रसन्न रहता है उससे उत्तम सुख और नहीं। योगशास्त्र का मत है, मनुष्य के सर्वदा प्रसन्न रहने से उसके संकल्प में बल बढ़ता जाता है किन्तु जिन को * प्रातःस्मरण से ही निन्दा करना, सुनना, दुष्टचिन्तनादि अघोर भाव ग्रसित कर देते हैं उनको मानसिक प्रसन्नता का सौभाग्य कब प्राप्त हो सकता है। सज्जनों से मैत्री, दीन दुःखियों से दया, उच्चकर्म्मों के करनेवालों से प्रसन्नता, दुराचारियों की उपेक्षा करने से मन प्रसन्न रहता है मन की प्रसन्नता ही संपूर्ण सौख्य की प्रसवभूमि है, यतः—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"

फलतः उक्त समृद्धियों की प्राप्ति नियमाचारी होने पर ही निर्भर है।

नियमाचारी हुए विना उसके आभ्यन्तरीय शक्तियों का प्रकाश होते होते स्तब्ध होजाता है। जिस अवस्था देश समय का हो तदनुसार नियमाचरण करने से शाश्वतिक सौख्य की प्राप्ति होती है एक ऋषि की गाथा है कि उसने आठ वर्ष तक अपने बालक को—

"नास्ति सत्यसमो धर्मः"

इस नियम का आचरण करवाया जिस से उसकी वाणी

---

* परिशुद्धामपि वृत्तिं समाश्रितो दुर्जनोन्यान् व्यथयते पवनाशिनोपि भुजगाः परपरितापं न मुञ्चन्ति। पिशुनत्वमेव विद्या परदूषणमेव भूषणं येषां परदुःखमेव सौख्यं शिव शिव ते केन वेधसा सृष्टाः॥

सत्यरूप होगई । इसी तरह प्रत्येक नियम के अभ्यास का वैसा वैसा फल है ।

इस प्राच्यशिक्षारहस्य में ऋषियों की पुनीत शिक्षा, आचार, विज्ञान, राजभक्ति आदि का वर्णन किया गया है जिन के यथावत् आचरण करने से मनुष्य दीर्घजीवी और सुखसम्पन्न रहेगा । भारतवर्षीय धार्मिक या व्यवहारिक प्रत्येक शिक्षा महत्त्वपूर्ण, प्रयोजनवती और Scientific Knowledge है जैसे श्रेष्ठ पुरुष के अपने घर आने पर या मिलने पर प्रणाम करना नियम है, तात्पर्य इस का यह है ।

"ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रमन्ति यूनः स्थविर आयति"

अर्थात् श्रेष्ठ के मिलने से प्राणवायु सहसा ब्रह्मांड में चले जाते हैं विनयपूर्वक प्रणाम करना ही उसको यथावत् स्थान में लाना है, इत्यादि प्रत्येक शिक्षा आशयपूरित हैं । जिनके यथावत् अभ्यास करने से जीवन का सौख्य होगा ।

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्तु ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः । उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समान-धर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

हरिदत्त शास्त्री-
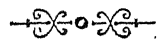
* ईश्वरस्मरणम् *

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्य-
जत्राः स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देव हितं
यदायुः ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ यो ब्रह्माणं व्यदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति
तस्मै त ँ ह देवात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।

भवबीजाङ्कुरजलदा रागाद्याक्षयमुपागता यस्य ब्रह्मा वा
विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीता अहमि-
हनन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च । रक्षां-
सि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।
कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसद् तत्परं यत् ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परञ्च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥
वायुर्यमोग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतेस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्वः ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोसि ततोसि सर्वं ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवायं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोसि विहारशय्याशनभोजनेषु ।
एकोथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोन्यः लोकत्रयेप्यप्रतिमप्रभावः ॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।
अदृष्टपूर्वं हृषितोस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं पुनः प्रसन्नो भव विश्वमूर्ते ॥

प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में कदापि शयन नहीं करना ऐसे ही सन्ध्याकाल में भी निद्रा का निषेध किया है, विस्तर से उठकर मुख प्रक्षालन कर निम्न लिखित मन्त्रों को पढ़ेः—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रा वरुणा प्रातरश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं । प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे । प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्य्ये ॥

इन मन्त्रों को पढ़ कर अपने दोनों करतलों को देखे जहां तक बने प्रातःकाल मांगल्य पदार्थों का दर्शन करे ।

तदनन्तर बहिर्भूमि या जाजरूर में विरामूत्र का परित्याग कर समाहितचित्त से शौच, दन्तधावन करे अर्थात्

दो पात्रों में जल रक्खे जब तक हस्त पादादि मृत्तिका से प्रक्षालन न करे तब तक मुखप्रक्षालन का जल न छुए ।

उच्चारे मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने ।
भोजने ध्यानकाले च षट्सु मौनं समाचरेत् ॥

मल मूत्र त्यागती बेर, मैथुनकाल, दन्तधावन के समय, भोजनकाल, सन्ध्यासमय में मौनव्रत धारण करे । प्रतिपद्, अष्टमी, चतुर्दशी के अतिरिक्त नित्य दन्तधावन करे अंगुली से दन्तधावन करना निषिद्ध है अनन्तर षोडश गण्डूष से मुख, जिह्वा प्रक्षालन कर निम्न लिखित प्रातःस्मरणीय मन्त्रों का पाठ करे ।

आदित्यस्य नमस्कारं ये कुर्वन्ति दिने दिने ।
जन्मान्तरसहस्रेषु दारिद्र्यं नोपजायते ॥

प्रातःस्मरामि रघुनाथमुखारविन्दं मन्दस्मितं मधुर-भाषि विशालभालम् । कर्णावलम्बिचलकुण्डल-शोभिगण्डं कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम् ॥ ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च । गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ भृगुर्वसिष्ठः क्रतुरङ्गिरश्च मनुः पुलस्त्यः पुलहश्च गौतमः । रैभ्यो मरीचिश्च्य-

वनश्च दक्षः कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥
अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमाँश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
सप्तैतान्संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्।
जीवद्वर्षशतं सोपि सर्वव्याधिविवर्जितः॥
अहल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरी तथा।
पञ्चकन्यां स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ॥

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषसुक-शौनकभीष्मदाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठवि-भीषणादीन्पुण्यानिमान्परमभागवतान्नमामि॥
धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन। शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन माद्रीसुतौ कथयतो न भवन्ति रोगाः॥

तदनन्तर स्नान करे स्नान सन्ध्या के पूर्व भोजन करना सर्वथा पतित होना है सिवाय रोगी के नित्य स्नान करने से मनुष्य सदैव नीरोग और पवित्र रहता है।

स्नान के गुण ।

गुणाः दश स्नानशीलं भजन्ते बलं रूपं स्वर-वर्णप्रशुद्धिः । स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥

नित्य स्नान करने से बल, रूप और कण्ठ का स्वर, मधुर होना, वर्ण की शुद्धि, सुखकर स्पर्श, देह में उत्तम गन्ध, शुद्धता, लक्ष्मी, सुकुमारता, सुन्दरता मिलती हैं ।

स्नान दो प्रकार के होते हैं उष्णोदक और शीतोदक से, जिनको शीतोदक से स्नान करने का अभ्यास है उनको रक्त पित्तबाधा नहीं होती है उष्णोदक कमज़ोर रोगी के लिए हितकर है तथा उन देशों में जहां गंगा का प्रवाह नहीं है, स्नान में जिस तरह अंग प्रत्यंगों का शुद्धिपूर्वक धर्म है इसी प्रकार प्राणायाम से अन्तःशुद्धि, ज्ञान स्थिर होता है । प्रातः-सायं-सन्ध्या, प्राणायाम करने से मुख्य लाभ यह है कि मन स्थिर होजाता है, जिसका मन स्थिर है जो काम दूसरा एक दिन में नहीं समझ सकता है उसको वह एक घंटे में जानता है इस लिए शास्त्र में सन्ध्या करने को नित्य-कर्म कहा गया है और प्राणायाम सन्ध्या का मुख्य अंग है ।

—:o:—

सन्ध्या ।

आचमनम् ।

ॐ विष्णुर्विष्णुर्हरिर्हरिर्हरिः

इस मन्त्र से तीन बार आचमन करे ।

पवित्रीकरणम् ।

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोपि वा ।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

इस मन्त्र को पढ़ता हुआ चारों ओर कुशा से जल सींचे ।

भूतोत्सारणम् ।

ॐ अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संश्रिताः ।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥

शिखाबन्धनम् ।

गायत्री मन्त्र पढ़ता हुआ शिखा बांधे ।

आसनपूजनम् ।

ॐ पृथ्वीति मन्त्रस्य मेरुपृष्ठऋषिः सुतलं छन्दः कूर्मो देवता आसनशोधने विनियोगः ।

प्रार्थना ।

ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम् ।

दीपपूजनम् ।

ॐ सुप्रकाशाय दीपनाथभैरवाय नमः ।

इस मन्त्र को पढ़ते हुए जल चन्दन अक्षत पुष्प चढ़ावे ।

प्रार्थना ।

ॐ सुखं भवतु कल्याणमारोग्यं सर्वसम्पदा ।
मम शत्रुविनाशाय दीपज्योतिर्नमोस्तु ते ॥

संकल्पः ।

तिल कुश जल हाथ में लेकर संकल्प पढ़े ।

ॐ अद्यैतस्य ब्रह्मणोह्नि द्वितीयप्रहरार्द्धे श्री-श्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्या-वर्तैकदेशे कलियुगे कलिप्रथमचरणे पुण्यक्षेत्रे अमुकसंवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहं सन्ध्योपासनं करिष्ये ।

प्राणायामः ।

ॐकारस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्रीछन्दोऽग्निर्देवता प्राणायामे विनियोगः ।

प्राणायाम केवल प्रणव (ॐ) से पूरक, कुम्भक, रेचक करे, या सप्तव्याहृतियुक्त गायत्री से करे ।

अङ्गस्पर्शः ।

ॐ वाक् वाक् ॐ प्राणः प्राणः ॐ चक्षुः चक्षुः ॐ श्रोत्रं श्रोत्रं ॐ नाभिः ॐ हृदयम् ॐ कण्ठः ॐ मुखम् ॐ शिरः ॐ शिखा ॐ बाहुभ्यां यशो बलम् ।

करन्यासः ।

ॐ भूः अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ॐ भुवः तर्जनीभ्यां नमः ॐ स्वः मध्यमाभ्यां नमः ॐ महः अनामिकाभ्यां नमः ॐ जनः कनिष्ठिकाभ्यां नमः ॐ तपः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

अङ्गन्यासः ।

ॐ भूः हृदयाय नमः ॐ भुवः सिरसे स्वाहा ॐ स्वः शिखायै वौषट् ॐ महः कवचाय हुं ॐ जनः अस्त्राय फट् ।

प्रातःकाल के आचमनमन्त्र का विनियोग ।

ॐ सूर्यश्चमेति ब्रह्माऋषिः प्रकृतिश्छन्दः सूर्यो देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः ।

आचमन का मन्त्र ।

ॐ सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम् यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद्दुरितं मयि इदमह ममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ।

सायंकाल के आचमनमन्त्र का विनियोग ।

ॐ अग्निश्च मेति रुद्रऋषिः प्रकृतिश्छन्दोऽग्निर्देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः ।

आचमन का मन्त्र ।

ॐ अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम् यदह्ना पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद्दुरितं मयि इदमहममृतयोनौ सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ।

मार्जन का विनियोग ।

ॐ आपो हिष्ठेत्यादि ऋचस्य सिन्धुद्वीपऋषिर्गायत्रीछन्द आपो देवता मार्जने विनियोगः ।

इस मन्त्र को पढ़ता हुआ कुशा से अपने ऊपर जल छिड़कता जाय ।

मार्जन का मन्त्र ।

ॐ आपो हिष्ठामयो भुवः ॐ तान ऊर्जे दधातन ॐ महेरणाय चक्षसे ॐ यो वः शिवतमो रसः ॐ तस्य भाजयते हनः ॐ उशतीरिव मातरः ॐ तस्मा अरंग मामव ॐ यस्य क्षयाय जिन्वथ ॐ आपो जनयथा च नः ।

ॐ सुमित्रियानः आपः ओषधयः सन्तु ।

इसको पढ़ शिरमें जल सींचे ।

ॐ दुर्मित्रिया तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ।

इससे जमीन पर जल डाले ।

ॐ द्रुपदादिवेत्यस्य कोकिलो राजपुत्र ऋषिरनुष्टुप्छन्द आपो देवता सौत्रामण्यवभृथे विनियोगः ।

मन्त्रः ।

ॐ द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो

मलादिव पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ।

अघमर्षणमंत्रविनियोगः ।

ॐ ऋतं चेत्यघमर्षणऋषिरनुष्टुप्छन्दो भाव-भृथो देवताऽश्वमेधावभृथे विनियोगः ।

अघमर्षणमन्त्रः ।

इस मन्त्र को पढ़ते हुए दहिने हाथ में जल लेकर बायें नासिका से सूंघ कर डाल दे फिर हाथ धो डाले ।

ॐ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।

सूर्यार्घ्यम् ।

गायत्री मन्त्र को पढ़ता हुआ तीन बार अर्घ्य में जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प डाल कर सूर्य को अर्घ्य देवे ।

मन्त्रः ।

एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते ।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं दिवाकर ॥

सूर्योपस्थान मन्त्र का विनियोग ।

ॐ उद्वयमित्यस्य हिरण्यस्तूपऋषिरनुष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः ।

मन्त्राः ।

ॐ उद्वयन्तमसस्परिस्वः देवं देवत्राः सूर्यमगन्मज्योतिरुत्तमम् ।

ॐ उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम् ।

ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।

गायत्री का आवाहन ।

ॐ तेजोसीति परमेष्ठी प्रजापतिऋषिर्यजुर्ज्जगती छन्दः आज्यं देवता गायत्र्यावाहने विनियोगः ।

ॐ तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ।

ॐ गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्य पदसि । नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदोमाप्रापत् ॥

विनियोगः ।

ॐ तत्सवितुरिति विश्वामित्रऋषिः गायत्री छन्दः सविता देवता जपे विनियोगः ।

ध्यानम् ।

ॐ गायत्रीं त्र्यक्षरां बालां साक्षसूत्रकमण्डलुम् ।
ऋग्वेदकृतोत्सङ्गां कौमारीं ब्रह्मवादिनीम् ॥
ब्रह्माणीं ब्रह्मदैवत्यां ब्रह्मलोकनिवासिनीम् ।
आवाहयाम्यहं देवीमायान्तीं सूर्यमण्डलात् ॥
आगच्छ वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि ।
गायत्रि च्छन्दसां मातर्ब्रह्मयोने नमोस्तु ते ॥

तदनन्तर गायत्रीमन्त्र से जप करे जप के बाद हाथ में जल लेकर इस मंत्र को पढ़े ।

गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्महेश्वरि ॥

प्रार्थनामन्त्रः ।

ॐ पाहि मां देवि मातस्त्वं सत्यं शौचं पराक्रमम् ।
लाभेष्टराज्यमानं च ज्योतिरूपे नमोस्तु ते ॥

सन्ध्या भजन के अभ्यास से तब लाभ हो सकता है जब मनुष्य प्रथम यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, धृति, मिताहार, शौच) इनका अभ्यास करे । नियम (तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्री, मति, व्रत) इनका पालन करे तब आसन का अभ्यास करे याने बैठने का तरीका सीखे जिस बैठक से चित्त स्थिर हो, श्वास प्रश्वास ठीक रीति पर चले उसको आसन कहते हैं । आसन प्रधानतया पद्मासन, वीरासन, सिद्धासन, स्वस्तिक, मयूरासनादि हैं ।

योनिं वामेन संपीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम् ।
भ्रूमध्ये स्वमनो लक्षेत् सिद्धासनमिदम्भवेत् ॥

बायें पैर की एँड़ी योनिस्थान पर जमावे दहिने पैर की एँड़ी मेढ़ू पेड़ू के ऊपर रखकर दोनों भ्रू के बीच में मन को लगाकर बैठे यह सिद्धासन है ।

ऊर्वोरुपरि संन्यस्य कृत्वा पादतले उभे ।

पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम् ॥

दोनों पैर के तलों को ऊरुके ऊपर रख कर बैठे यह पद्मासन है।

जानुनोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायसमासीनं स्वस्तिकं तत्प्रचक्ष्यते ॥

दोनों पैर के तलों को दोनों जानुओं के भीतर करके सीधा बैठे तो स्वस्तिक आसन होता है । तात्पर्य किसी भी ऐसी मुद्रा से बैठें कि दोनों घुटने जमीन पर लग जायँ सीधा बैठ कर दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर लगे उसीका नाम आसन है ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

पवित्र स्थान में स्थिर चित्त से कुशा, ऊर्णावस्त्र, मृगचर्म के आसन पर बैठें ।

समं कायशिरो ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

छाती, शिर, ग्रीवा इन तीनों को सीधे एक समान करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाने से आसन सिद्ध होता है ।

इसके अनन्तर प्राणायाम का अभ्यास इस प्रकार करे कि पहले लम्बी स्वास लेने का कुछ दिन अभ्यास डाले स्वास नासिका से खींचना सीखे जब ठीक आसन पर बैठना सीख जाय

तब अभ्यास करे अपानवायु नीचे की गति जो नीचे के हिस्से में मालूम होती है प्राणवायु जो ऊपरी भाग में मालूम होती है शनैः शनैः लम्बी स्वास लेने से इन का अनुभव कर ले इससे कुण्ड-लिनी शक्ति षट्चक्र का पता भी लगने लगेगा तब बायीं ना-सिका बंद कर अन्दर से वायु खींचने का अभ्यास करे इसे पूरक कहते हैं अन्दर की वायु खींचकर रोकने को कुम्भक कहते हैं रोकी हुई वायु को शनैः शनैः अन्दर छोड़ने को रेचक कहते हैं प्रारम्भ काल में ३२ बार पूरक ६४ बार कुम्भक १६ बार रेचक करे अर्थात् प्रणव के उच्चारण में जितना समय लगे वह एक बार हुआ प्राणायाम शुद्ध करने से अन्दर की सम्पूर्ण नाड़ियां शुद्ध होकर वृत्ति स्थिर होजायगी किन्तु प्राणायाम के अभ्यासी को प्रथम यम, नियम, आसन भली भांति अभ्यास में लाने चाहिए।

अग्निहोत्र ।

हाथ में पुष्प, अक्षत लेकर यह मन्त्र पढ़े ।

ॐ विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि पराशुवः यद्भद्रं तन्न आसु वः ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

तब अग्नि को इस मन्त्र से प्रज्वलित कर पूजन करे ।

ॐ भूर्भुवः स्वः द्यौरिव भूम्ना पृथवीव वरिम्णा तस्यास्ते पृथवि देव यजानि पृष्ठेऽग्निमन्नाद मन्नादाया दधे ।

प्रार्थना ।

ॐ अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदहुताशनम् ।
समिद्धवर्णं ज्वलितं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥

ॐ वैश्वानराय नमः पाद्यं जलं चन्दनं अक्षताः पुष्पाणि धूपं दीपं नैवेद्यम् ।

इन मन्त्रों को पढ़ता हुआ घृताहुति देवे ।

ॐ भूरग्नये प्राणाय स्वाहा
ॐ भुवः वायवे अपानाय स्वाहा
ॐ स्वरादित्ये प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा

ओ३म् सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन स्वाहा ।

हवन के प्रतीक ।

१ समिधाग्निन्दुवस्वत घृतैर्बोधयता तिथिम् अस्मिन्हव्या जुहोतन स्वाहा ।

२ सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन अग्नये जातवेदसे स्वाहा ।

३ तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि बृहच्छोचाय विष्ट्यः स्वाहा ।

४ उपत्वाग्ने हविष्मती घृताचीर्यंतु हर्यत जुषस्व समिधो मम ।

५ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ।

६ सजुर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ।

७ सजुर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्याजुंषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ।

८ यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये यदेनश्चाक्रिमा वयमिदन्तदवजामहे स्वाहा ।

तब गायत्री मन्त्र से यथासंख्य हवन करे ।

ॐ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये ।

ॐ इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय ।

ॐ सोमाय स्वाहा इदं सोमाय ।

पूर्णाहुति ।

ॐ अग्ने नय सुपथाराय अस्मान्विश्वानिवेद वयुनानि विद्वान् युयुध्यस्मज्जुहराण मेनो भूयिष्टां ते नमः उक्तं विधेम स्वाहा ।

ॐ पूर्णादर्वि परापतस्वपूर्णा पुनरापत वस्ने वहि क्रीडावहा ईषमूर्द्धः शतक्रतो स्वाहा ।

प्रार्थना ।

ॐ तनूनपाग्नेसि तन्वं मे पाहि ॐ आयुर्दाग्नेस्यायुर्मे देहि ॐ वर्चोदाग्नेसि वर्चो मे देहि अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्मे आवृण ।

ॐ शतं जीव शरदो वर्द्धमानः शतं हेमन्ता-
च्छतमुवशन्तात् शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पती
शतायुषा हविषेनं पुनर्हुः ।

ॐ नमस्ते गार्हपत्याय नमस्ते दक्षिणाग्नये ।
नमो आहवनीयाय महावेद्यै नमो नमः ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी शस्यशालिनी ।
देशोयं क्षोभरहितः कर्मिणः सन्तु निर्भयाः ॥

ॐ तत्सत् ।

ॐ

दशश्लोकी आत्मचिन्तन ।

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु-
नखं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः ।
अनैकान्तिकत्वात्सुषुप्त्येकसिद्ध-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥१॥

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा
न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि ।
अनात्माश्रयाहं ममाध्यासहीना-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥२॥

न माता पिता वा न देवा न लोका
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति ।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वा-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥३॥

न सांख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं
न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा ।
विशिष्टाऽनुभूत्या विशुद्धात्मकत्वा-

स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥४॥

न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यं
न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वा परा दिक्।
वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूप-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥५॥

न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं
न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम्।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वा-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥६॥

न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा
न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चः।
स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णु-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥७॥

न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्ति-
र्न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा।
अविद्यात्मकत्वात्त्रयाणां तुरीय-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥८॥

अपिव्यापकत्वाद्धि तत्त्वप्रयोगा-
त्स्वतः सिद्धभावादनन्याश्रयत्वात् ।
जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्य-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥९॥
न चैकं तदन्यद्द्वितीयं कुतः स्या-
न्न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम् ।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वा-
त्कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥ १० ॥

ब्रह्माकार वृत्ति को इस प्रकार बना सकता है प्रथम सृष्टि के स्थूलभावों से अपने आपको छानबीन करके देखे कि मैं इन स्थूलभावों का पुंज हूं या इनसे पृथक्। अनन्तर शारीरिक सूक्ष्म और उपचारिकभावों से खूब छानबीन कर देखे कि मैं इन सब भावों से निराला अनन्त हूं ब्रह्मस्थिति को जो उसे छानबीन करने से प्राप्त हुई हो उसका निरन्तर अभ्यास में लाकर अनुभव करे यथा—

(१) मैं भूमि का पिण्ड नहीं हूं जल, तेज, वायु भी नहीं हूं आकाश भी नहीं हूं और कोई इन्द्रियविशेष भी नहीं हूं नाहीं इन सब इन्द्रियों का समूह ही हूं क्योंकि वह अन्तवान् होने से। परन्तु मैं वह सुषुप्ति का साक्षी जो इन तत्त्व इन्द्रिय, अवस्था आदिको छानबीन करने से अवशिष्ट रह जाता है त्रिगुणातीत अनन्य शुद्ध शिव (आत्मा) हूं।

(२) मैं यथार्थ में ब्राह्मणादि जाति नहीं हूं न वर्णाश्रम धर्म का आचरणस्वरूप हूं न योग के ध्यानधारणात्मक हूं क्योंकि मैं और मेरा, यह जो ज्ञान है उसका आधार अनात्मा है और स्वरूपज्ञान होजाने से मैं और मेरा यह अदृश्य होजाते हैं अतः मैं वह शुद्ध अनन्य त्रिगुणातीत शिव (आत्मा) हूं।

(३) मैं न तो किसी की माता, पिता, देवगण, न लोकगण, न वेद, न यज्ञ, न तीर्थ हूं क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में जो दशा हो जाती है वह भी मैं नहीं हूं अतः मैं वह शुद्ध अनन्य दृष्टिगोचर से परे त्रिगुणातीत आत्मा हूं।

(४) न तो मैं सांख्यशास्त्र, शैवसिद्धान्त न वैष्णवधर्मक पाञ्चरात्र न जैनमत न मीमांसकादि मत हूं और न इस प्रकार के कोई भी मत से मेरा सम्बन्ध है क्योंकि शुद्ध आत्मा के अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरा शुद्धस्वरूप है अतः मैं वह शुद्ध अनन्य त्रिगुणातीत शिव (आत्मा) हूं।

(५) न तो मैं ऊपर (स्वर्गादिलोक) न नीचे (पातालादि लोक) न अन्दर (सूक्ष्म शरीरलोक) न बाहर (जीवलोक) न बीच (अन्तरिक्ष) न तिर्छा (नक्षत्रमण्डल) न सामने (दृश्य-जगत्) न पीछे (आगन्तुक जगत्) इत्यादि मैं हूं क्योंकि सर्वव्यापक होने से मैं ऐसा हूं जिसका पृथक् पृथक् अंश नहीं हो सकता अतः मैं शुद्ध अनन्य त्रिगुणातीत शिव (आत्मा) हूं।

(६) न मेरा शुक्लवर्ण है न कृष्ण, न रक्तवर्ण न पीतवर्ण न कुबरा न स्थूलदेही न छोटा न ऊंचा हूं और मैं अरूप भी नहीं हूं क्योंकि प्रकाशस्वरूप होने से। अतः मैं शुद्ध अनन्य त्रिगुणातीत शिव आत्मस्वरूप हूं।

(७) न मैं उपदेशक, न शास्त्र, न शिष्य, न शिक्षा और तू तथा मैं यह भेद जो है वह भी मैं नहीं हूं और यह जो

जगत्‌रूपी प्रपञ्च है वह भी मैं नहीं हूं क्योंकि स्वरूप का ज्ञान होने पर संशय की निवृत्ति होने से शुद्ध अनन्य त्रिगुणातीत चैतन्य शिव (आत्मा) हूं ।

(८) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ भी मेरी नहीं हैं क्योंकि इन दशाओं का साक्षी विश्व तैजस प्राज्ञ भी मैं नहीं हूं ये तीनों अवस्थाओं के अविद्यात्मक होने से इनसे तुरीय शुद्ध अनन्य शिव (आत्मा) मैं हूं ।

(९) यथार्थ में सबमें व्यापक होने से दूसरे के आश्रय से रहित स्वयं प्रकाश और स्वतःसिद्ध होने से यह सम्पूर्ण जगत् तुच्छ भ्रान्तिरूप होने से मैं शुद्ध अनन्य शिव (आत्मा) हूं ।

(१०) न मैं एक ही हूं और उससे दूसरा फिर कहां हो सकता है न केवल हूं न अकेवल ही हूं मैं शून्य भी नहीं हूं अद्वैत होने से अशून्य भी नहीं तब सम्पूर्ण वेदान्त की सिद्धि किस प्रकार वर्णन करूं ।

तप ।

मनुष्य को विद्या का विकाश, भजन, उपासना की सिद्धि के लिए तप की परम आवश्यकताहै, जब तक वह तप नहीं करता है तब तक विद्या का केवल आधिभौतिक विकाश के अतिरिक्त आधिदैविक विकाश हो नहीं सकता है, कारण मनुष्य के भाषण-संकल्प शारीरिक व्यवहार से जो मल उत्पन्न होकर उसके ज्ञान के विकाश का आवरण हो जाता है (जिस तमःपटल-वत् आवरण के होने से बहुत प्रयत्न करने पर भी उसकी बुद्धि में दैवीविकाश नहीं होता है) वह मल उसका तप करने से ही दूर होता है तब उसमें दैवी उज्ज्वल चमत्कारिक विकाश सञ्चरित होने लगता है अतः प्रधानतया जिन तीन (शारीरिक, मानसिक, वाचिक) मलों से आवरण होता है प्रथम उनको शुद्ध करना ही तीन प्रकार का तप इष्टसिद्धि के लिए है।

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते" ॥

देवता, गुरु, विद्वान् का सत्कार करना, पवित्र रहना, नम्र स्वभाव बनाना, ब्रह्मचर्य पालन करना, अहिंसाव्रत रखना यह शारीरिक तप है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

कभी दुःख देनेवाली या उद्वेग करनेवाली बात न बोले, सत्य और प्रिय हितकारी वचन कहने का अभ्यास डाले।

स्वाध्याय याने आत्मज्ञान की पुस्तकों का पढ़ना और विचारने का अभ्यास करना यह वाणी का तप है ।

मनः प्रसादसौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानस उच्यते ॥

मनको प्रसन्न रक्खे सौम्य स्वभाव बनावे इन्द्रियों को अपने अधिकार में रक्खे अर्थात् मन को वश में रक्खे यह मानसिक तप है । इन तीन प्रकार के तप करने से सम्पूर्ण मल दूर होकर विद्या का स्वच्छ प्रकाश मनुष्य में सञ्चार होने लगता है ।

स्वरोदय ।

ध्यायेत्तत्त्वं स्थिरे जीवे अस्थिरे न कदाचन ।
इष्टसिद्धिर्भवेत्तस्य महालाभो जयस्तथा ॥

किसी भी कार्य के प्रारम्भ करने के प्रथम चित्त स्थिर होना आवश्यक है, अस्थिर चित्त में काम करना उचित नहीं स्थिर चित्त होकर जो काम किया जाय उसमें सिद्धि होती है इसका ज्ञान स्वरोदय से मनुष्य सुगमता से प्राप्त कर सकता है। स्वरशास्त्र प्रधानतया चन्द्र, सूर्य याने (इडा, पिङ्गला) नाड़ियों के प्रवाह से चित्त के भाव की स्थिर, अस्थिर दशा को दिखाते हैं और किस कार्य को किस स्वर में करने से सिद्धि होती है।

जैसे—"चन्द्रनाडीप्रवाहेण सौम्यकार्याणि कारयेत्"।

अर्थात् बायें स्वरके चलने में सम्पूर्ण सौम्यकार्य प्रारम्भ करे।

यात्रा करने में चन्द्रस्वर शुभ और प्रवेश करने में सूर्यस्वर शुभ होता है।

रात्रि में चन्द्रमा के स्वर को न चलावे दिन में सूर्यस्वर को कम करे, इसके अभ्यास करनेसे मनुष्य बहुत उच्च सिद्धि को प्राप्त करता है। चन्द्रमा पूर्व और उत्तर दिशा में रहता है सूर्य पश्चिम, दक्षिण दिशामें रहता है इसलिए दाहिनी नाड़ी चलने पर दक्षिण पश्चिम, वाम नाड़ी के चलने पर पूर्व उत्तर यात्रा न करे।

सोकर उठते समय जो स्वर चलता हो उसी हाथ की

हथेली से मुख का स्पर्श करने से दिन भर आनन्द रहेगा।

निम्न लिखित कार्य इड़ा याने वाम नाड़ी के प्रवाह में करे देवता की प्रतिष्ठा, दान, यात्रा, विवाह, वस्त्र, अलंकार, शान्तिकर्म, ओषधी रसायन, स्वामी से मेल, मित्रमेल, वाणिज्यकर्म, गृहप्रवेश, विद्यारम्भ, मन्त्रसिद्धि यह सब इडा नाड़ी में शुभ हैं ।

जितने क्रूर कर्म हैं वे सब नौका, उग्र देवता की उपासना, पशुओं का बेचना, शिल्पकार्य, यंत्र-तंत्र, हाथी-घोड़ा लेना, व्यायाम (कसरत), नदी तैरना, शत्रु को दण्ड, शस्त्र उठाना, युद्ध, राजदर्शन, भोजन, स्नान ऐसे कर्म पिङ्गला (दाहिने स्वर) में करने से लाभदायी हैं।

जब क्षण में बायां क्षण में दाहिना स्वर चले उस दशा को सुषुम्णा का प्रवाह कहते हैं ऐसी दशा में संसार का कोई कार्य न करना केवल ईश्वर का भजन करना चाहिये।

भोजन ।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।

आहारशुद्धि से सत्त्वगुण प्राप्त होता है सत्त्व से प्रज्ञा स्थिर होती है । पशु की गति और मनुष्य की गति में मुख्य बात यह ही है पशु को जहां भी सुभीता हो वहीं भोजन, शयन, मल, मूत्रोत्सर्ग कर देता है लेकिन मनुष्य को प्रथम भक्ष्य क्या है और अभक्ष्य क्या, इसका विचार होता है भक्ष्य अर्थात् खाने के योग्य मनुष्य को इसका विचार धर्मशास्त्र पर है मनु की शिक्षा में आगे प्रकट है भोजन तीन प्रकार के हैं मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं । ज्ञानवृद्धि, दीर्घायु, आरोग्य सात्त्विक भोजन से हैं रस्य, स्निग्ध, स्थिर और हृद्य सात्त्विक भोजन हैं ज्यादे नमकीन, कड़ुवे, खट्टे, ऐसे भोजन राजसी होने से रोग के करनेवाले हैं दुर्गन्धियुक्त, जिनका रस सूख गया हो, बासी इत्यादि तामसी भोजन आयु का नाश करनेवाले होते हैं । मनुष्य जो कुछ खाते हैं उसके तीन भाग होते हैं, स्थूलभाग मल होकर निकल जाता है, मध्यमभाग मांस शोणित तय्यार करता है, सूक्ष्म भाग से मन बनता है । जिस तरह के अन्न मनुष्य खाता है वैसा उसका मन बनता है, यह निरंतर विचारणीय स्थल है यदि अच्छे विचार एवं शिवसंकलप अपने चाहते हो तो मन

को मलिन या शुद्ध बनाना आप के भोजन के अधिकार में है। आर्यलोग पाकशाला शुद्धस्थान में निर्माण करते थे और रसोई बनानेवाले भी शुद्धाचरणयुक्त होकर अन्न को बनाते थे संसर्ग-दुष्ट, भावदुष्ट, क्रियादुष्ट यदि होगया तो उसका परित्याग कर देते थे, यह प्रमाद उनमें न था कि स्पर्शास्पर्श और भक्ष्याभक्ष्य पर विचार न करें तभी उन की विद्या, समाधि, दीर्घायु आदि सम्पत्तियां स्थिर रहती थीं पशुओं का भोजन केवल क्षुधा का परिहारक हैं मनुष्यों का धर्माचरणपूर्वक देहरक्षा के निमित्त है इसलिए भोजन की शुद्धि में निरंतर जागरूक रहे। संसर्गदुष्ट अन्न के खाने में चंचलता बढ़ती है स्वभावदुष्ट, क्रियादुष्ट से मनःशोक भोगने पड़ते हैं, कसैले, अति क्षारयुक्त भोजन में दुर्बलता, अतिआहार करने से अल्पायु, शुद्ध पवित्र अन्न खाने से स्थिरता, दुग्धपान करने से मन की पवित्रता, शाकभोजन से निर्मलता, फल अधिक खाने से गम्भीरता व नीरोगता होती है। निदान पवित्र देश में ईश्वरार्पण करके लघुपाकभक्ष्य पदार्थ भोजन करने से दीर्घायु प्राप्त होती है संसर्गदुष्ट, यातयाम (बासी), गुरुपाक भोजन अहित है।

"दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्ष्यते नित्यं जायते तादृशी प्रजा" ॥

दीपक अन्धकार को खाता है इसलिये वह कज्जल को उत्पन्न

करता है बस जिस तरह के अन्न पुरुष खाता है वैसी ही उससे सन्तान होती है जबतक भोजन शुद्ध न हो और वह भोजन किस तरह मिला है धर्म से या अन्याय से इसका विचार न करोगे तो आपकी सन्तान भी वैसी ही होगी। शास्त्रों में भोजन केवल दो बार मध्याह्न तथा सायंकाल में विहित है, बीच में भोजन करना निषिद्ध है।

"नान्तरा भोजनं कुर्यात्" बीच में भोजन न करे भोजन के पूर्व हाथ पांव धोकर आचमन करना चाहिये गीले पांव भोजन करना शास्त्रविधि है। किंतु गीले पांव शयन नहीं करना, जो भोजन शास्त्रनिषिद्ध है वह नहीं खाना चाहिये जो पदार्थ वनाये जायँ विना देवता, अतिथि, कुटुम्बियों को दिये स्वयं नहीं खाने चाहिये।

वह आहार जो दोषों को उत्तेजित करे और शरीर के वाहर न निकले सदा निषिद्ध है। जो आहार मनको प्रिय हो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में कोमल हो उसके भोजन करने से शरीर के धातु, बल, वीर्य, पराक्रम की वृद्धि होती है भोजन प्रमाण से करना चाहिए जो पदार्थ खाने में भारी हों उन्हें थोड़ा खावे, जो खाने में हल्के हैं उन्हें तृप्तिपर्यन्त खाना। विरुद्धभोजन से सदा बचना चाहिए जैसे मधु, तिल, गुड़, उड़द, मूली, दूध, दही एकसाथ नहीं खाना इसी प्रकार बहुत निमक, खटाई, कड़ुवा, चर्परा, कसैला, बहुत गरम, बहुत ठण्ढा, बहुत देर का रक्खा जिसमें दुर्गन्ध आता

हो ऐसा भोजन मत करो प्रसन्न और पवित्र मनसे पवित्र जगह पर भोजन करना वैद्यकशास्त्र का मत है। मध्याह्न का भोजन किया सायंकालतक न पचे तो कदाचित् भोजन करसकते हो यदि सायंकाल का किया भोजन न पचे तो तब तक कदापि भोजन नहीं करना। सामान्य नियम यह है कि दो भाग उदर के भोजन से, एक भाग जल, एक वायु के संचार के लिए, इन नियमों पर चलने से बहुत रोगों से बचे रहेंगे।

जो चावल बिना धुले पकाये जावें उन्हें भोजन नहीं करना, जो शाक कीड़ों से खाया हुआ या सुखाया हो अथवा पुराना या बेमौसमी हो या बिना घी, तेल के पकाया हुआ हो उसे भी न खाना। जो फल पुराने, कच्चे, हवा धूप से गिरे या किसी जीव के खाये हुए हों उन्हें नहीं खाना चाहिए तम्बाखू, चुरुट, सिगरेट सब उन्मादक वस्तुओं से दूर रहना चाहिए। सुरापान महापातक है इसको कदापि न करना भोजन का समय नियत हो सायंकाल को गुरुपाक भोजन न करना।
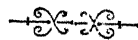
शिक्षा।

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्काप्यतिदुष्करम्।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः शुचिः॥

जिसने पुण्यतीर्थ में तपस्या की हो उसी का पुत्र धार्मिक, गुरुजन की पूजा करनेवाला होता है शास्त्र में उन मनुष्यों की आयु, विद्या, ऐश्वर्यप्राप्ति लिखी है जो अपने पूज्य गुरुजन के भक्त हों। मनुष्य अपने मृदुस्वभाव व प्रेमसञ्चारिणीशक्ति के द्वारा दूसरों की प्रकाशमय शक्तियों का आश्रय लेकर अपनी शक्तियों को बढ़ा लेता है, प्रकाशमयशक्ति सत्त्वगुणवती रहती हैं इसलिए सत्त्वगुण से उत्पन्न हुए मृदुस्वभाव शुद्ध प्रेम इनके प्रयोग करने से वे सत्त्वगुण की शक्तियां दूसरों से आकर अपने आप में सन्निवेश करती हैं, इसलिये प्राथमिक शिक्षा गुरुजनों का पूजन है गुरुजनों के साथ हार्दिक विशुद्धभक्ति से जिस तरह उनकी शक्तियां हम में आजाती हैं इसी तरह जगत् से प्रकाशमय शक्ति उस को मिल जाती है। यह स्मरण रहे जिस तरह से सांक्रमिक रोगी के संसर्ग से संसर्गी को भी प्रायः उस रोग के होजाने का भय रहता है इसी तरह खास कर बाल्यावस्था में जिस समय संस्कारकोश शुद्ध रहता है उस समय मलीनप्रकृति, दुष्ट-प्रकृति, स्वार्थी, क्षुद्र इनके संसर्ग से बचना चाहिए, इन का

संसर्ग तामस की शक्तियों को बढ़ा कर सात्त्विकप्रकाश का आवरण कर देता है ।

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

ठीक है पुण्य का फल ऐश्वर्य इस को सब चाहते हैं किन्तु स्वार्थ का परित्याग कर निर्द्वन्द पुण्यपीठ पर आसन बांधना नहीं चाहते और पाप का फल दुःख दारिद्र्य कोई नहीं चाहता किन्तु दूसरों को दुःख देना पाप करना नहीं छोड़ते । चाहते हैं पुत्र, दीर्घायु, सदैश्वर्यवान् हों इसका विचार करना तुच्छ समझते हैं ऐश्वर्य आयुःप्रद विद्या की शक्ति प्रक्षीण क्यों होती हैं, माता पिता के दुरात्म्यभाव से बालक के संस्कार मलिन होकर दम्भाभिमान उसके बढ़ते जाते हैं जिससे वह विद्वान्, धार्मिक नहीं होता शास्त्र में यह दर्शाया हुआ है "एवमेनः शमं याति बीजगर्भ: समुद्भवम्" शास्त्रानुसार संस्कार करने से वीजगर्भ के दोष दूर होजाते हैं अब सांसर्गिक दोष रहे उनसे बचने के लिए बाल्यकाल से गुरुजन का सत्कार करने की शिक्षा दीजाय जिस से उसके रोम रोम में मृदुस्वभाव, सत्याचरण, अद्रोह, सर्वजनप्रियता बनी रहे ।

गुरूणां पूजा।

जनिता चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते गुरवः स्मृताः ॥ १ ॥
मातृपितृगुरूणाञ्च पूजा बहुमता मम।
इह लोके नरो भोगान् यशश्च महदश्नुते ॥२॥

उत्पन्न करनेवाला, व्रतबन्ध देनेवाला, विद्या पढ़ानेवाला, भोजनवृत्ति देनेवाला, भय से बचानेवाला अर्थात् माता, पिता, गुरु, आचार्य, राजा, सहायक ये सब गुरु हैं शास्त्र में मनुष्य को सबसे प्रथम गुरुजन का पूजन अर्थात् उनकी प्रतिष्ठा मन, वच, कर्म से उनका हिताचरण ही अपना हिताचरण समझना। गुरु जो मनुष्य को ज्ञान देता है रक्षा करता है माता, पिता, आचार्य इनका पूजन इनका हित करना परम धर्म है भीष्म जी का उपदेश है ॥ १ ॥

माता, पिता, गुरु की प्रतिष्ठा सत्कार मुझे बहुत ही माननीय है जो मनुष्य इनकी सेवा करता है वह इस देह में उत्तम भोग करते हुए पुण्य, यश प्राप्त करता है और परलोक में उत्तम गति पाता है ॥ २ ॥

मातृपितृभक्ति ।

न च तैरननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ।
यच्च तेभ्योनुजानीयुः स धर्म इति निश्चयः ॥१॥
त एव हि त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः ।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोग्नयः ॥२॥
पिता वै गार्हपत्योग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयोग्निः साग्नित्रेता गरीयसी ॥ ३ ॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि ।
पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथा परम् ॥४॥

विना उनकी आज्ञा के अन्य धर्म का अवलम्बन न करे जो वे कहें वही धर्म है ॥ १ ॥

वही तीन लोक, तीन आश्रम, तीन वेद, तीन अग्नियां हैं ॥२॥

पिता गार्हपत्य, माता दक्षिणा, गुरु आहवनीय अग्नि है अतः ये तीनों अग्नियां अति गुरुतर हैं ॥ ३ ॥

इन तीनों में प्रमाद न रखने से तीन लोक को जय कर लेगा पिता की सेवा से इसलोक और माता की सेवा से परलोक को अपने विजय कर लेगा ॥ ४ ॥

ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्त्या नियमेन तरिष्यसि ।
सम्यगेतेषु वर्तस्व त्रिषु लोकेषु भारत ॥ ५ ॥
यशः प्राप्स्यसि भद्रं ते धर्मञ्च सुमहत्फलम् ।
नैतानतिशये जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत् ॥ ६ ॥
नित्यं परिचरेच्चैव तद्वै सुकृतमुत्तमम् ।
कीर्तिं पुण्यं यशो लोकान्प्राप्स्यसे राजसत्तम ॥७॥
सर्वे तस्याहता लोका यस्यैते त्रय आहताः ।
अनाहतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥८॥

गुरु की शुश्रूषा करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है हे भारत ! इन तीन पूज्य स्थानों में सावधानी से वर्ताव करना चाहिये ॥ ५ ॥

हे भद्र ! इस प्रकार करने से बड़ा यश और महान् फल को देनेवाला धर्म पावेगा कोई भी मनुष्य इनकी उपेक्षा न रख हमेशह परिचर्या में लगा रहे और कभी दूषित न करे ॥ ६ ॥

इनकी नित्य सेवा करना ही परम पुण्य है हे राजसत्तम ! गुरुजन की पूजा करने से कीर्ति, पुण्य, यश, उत्तम उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

जिसने इन तीनों का सत्कार किया है उसने तीन लोक का पूजन कर लिया, जिसने इनका आदर न किया उसकी सम्पूर्ण क्रिया निष्फल हैं ॥ ८ ॥

न चायं न परो लोकः तस्य चायं परन्तप ।
अमानिता नित्यमेव यस्यैते गुरवस्त्रयः ॥ ६ ॥
न चास्मिन्न परे लोके यशस्तस्य प्रकाशते ।
न चान्यदपि कल्याणं परत्र समुदाहृतम् ॥१०॥
तेभ्य एव हि तत्सर्वं कृत्वा च विसृजाम्यहम् ।
तदासीन्मे शतगुणं सहस्रगुणमेव च ॥ ११ ॥
स स्मान्मे सम्प्रकाश्यन्ते त्रयो लोका युधिष्ठिर ।
दशैव तु सदाचार्यः श्रोत्रियादतिरिच्यते ॥ १२ ॥
दशाचार्यादुपाध्याय उपाध्यायात्पिता दश ।
पितुर्दश तु मातैका सर्वाम्बा पृथिवीपतिः ॥ १३ ॥

हे परन्तप ! जिसने इनका निरादर किया उसके दोनों लोक नष्ट होजाते हैं ॥ ६ ॥

उसका किसी लोक में यश नहीं और कोई कल्याण नहीं होता है ॥ १० ॥

जो कुछ मैंने किया सब उनके लिये छोड़ता हूं तब वह भलाई शतसहस्रगुण मुझ को मिलती है ॥ ११ ॥

हे युधिष्ठिर ! इसी से मेरे तीन लोक प्रकाश होते हैं आचार्य श्रोत्रिय से दशश्रेणी ऊंचा है आचार्य से उपाध्याय दशगुणा श्रेष्ठ है उपाध्याय से दशगुणा पिता, पिता से दशगुणा माता

गुरुत्वेनाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः ॥१४॥
यं माता पितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥१५॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ १६ ॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ १७ ॥

या जो कुछ पृथिवी में पूज्य है वह माता है माता के समान और गुरु कोई नहीं है ॥ १२ । १३ । १४ ॥

माता, पिता पुत्र के लिए जो कुछ कष्ट उठाते हैं उसका पलटा सैकड़ों वर्ष में भी नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

माता, पिता का नित्य हित करना, इसी तरह आचार्य का भी हित करे। माता, पिता, आचार्य के सन्तुष्ट होने से सम्पूर्ण तपस्या सफल हो जाती है ॥ १६ ॥

उन तीनों की सेवा परम तप है विना उनकी आज्ञा के और और अनुष्ठान करना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

—:०:—

गुरुभक्ति ।

यश्चावृणोत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् तं मन्येत पितरं मातरञ्च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्च नाह ॥ १ ॥

विद्यां श्रुत्वा गुरुं येनाद्रियन्ते प्रत्यासन्ना मनसा कर्मणा वा । तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं नान्यस्तेभ्यः पापकृदस्ति लोके ॥ २ ॥

तस्मात्पूजयितव्याश्च संविभोज्याश्च यत्नतः ।
गुरवोर्चयितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छता ॥ ३ ॥

जो गुरु सत्य का उपदेश करता हुआ विद्यारूपी अमृत पिलाता है उसको माता पिता जान कर कभी उसका अनादर न करे ॥ १ ॥

गुरु से थोड़ी भी विद्या पढ़ कर जो उसका आदर नहीं करता उसको भ्रूणहत्या से भी अधिक पाप लगता है उससे अधिक कोई पापी नहीं जो विद्यागुरु का आदर न करे ॥ २ ॥

धर्म के चाहनेवाले को नित्य गुरु का सत्कार, मान, पूजा करनी चाहिए ॥ ३ ॥

विद्याप्राप्ति के लिये मुख्य तीन बातें हैं श्रद्धा, भक्ति, निर-भिमान । जब तक इनका अभाव रहा सारस्वतसार प्राप्त नहीं होता, केवल स्वयं पुस्तक पढ़ने से भी ज्ञान नहीं होता जब तक विधिपूर्वक गुरु से शास्त्र न पढ़ा जाय ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ ८ ॥

वेद, वेदान्त पढ़े हुए गुरु के घर पर जाकर पढ़ें तब उसके प्रसाद से विद्या फलवती होती है ॥ ८ ॥

राजभक्ति ।

नराणां च नराधिपम् ॥ १ ॥

मनुष्यजाति में राजा ईश्वर के तुल्य माना गया है उस की आज्ञा पालन तथा भक्ति मनुष्य के सब प्रकार हित के साधक हैं अनादिसिद्ध वेदों में प्रजावर्ग को राजा का शुभचिन्तन सब से प्रथम कर्तव्य है । राजा के शुभचिन्तन से राज्य का शुभचिन्तन होता है, राजा के अशुभचिन्तन से राज्य का अमंगल होता है । प्राचीनकाल में प्रजा का सबसे प्रथम कर्म राजा का ही शुभ-चिन्तन मनाना था जैसे वेदों में लिखा है ॥ १ ॥

ॐ इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षेत्राय महते ज्यैष्ठाय महते ज्यानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इम ममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ २ ॥

परमेश्वर ! हमारे राजा के कोई शत्रु न हों और ईश्वर उसको सद्बुद्धि प्रदान करे, इस प्रकार वेदों में राजा के शुभ-चिन्तन के लिए अनेक पाठ्य मंत्र हैं ॥ २ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं ।

**निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।
सोपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥३॥**

निज अर्थात् आत्मधर्म से विरुद्ध न हो ऐसा जो सामयिक धर्म है उसका पालन करना और राजा के बनाये हुए नियम पर अवश्य आचरण करना चाहिए ॥ ३ ॥

राजा और प्रजा का सम्बन्ध पूर्वकाल से इस प्रकार है जैसे पिता और पुत्र का या शिर और धड़का, इनके परस्पर मेलसे ही शरीर-यात्रा सफल होती है जिस प्रकार संपूर्ण शरीर मस्तिष्क (शिर) के अनुशासन पर सुखी रहता है । इसी तरह प्रजा भी राजा के वशवर्तिनी होकर परम श्रेय को प्राप्त करती है। राज्यशासनप्रणाली मनुष्यमात्र की रक्षा के लिए एक ही महान् आधार है जिस वस्तु या व्यक्ति का जिस प्रकार हमारे पोषण या रक्षा करने का सम्बन्ध है उसी तरह उसके विपरीत आचरण करने पर दुःख का भी भय है । जीवमात्र अपने प्राणरक्षा के लिए अनेक क्लेश सहन कर प्राणों को बचाते हैं क्योंकि सम्पूर्ण शरीर का आश्रय प्राण है प्राणों की रक्षा भी राजा के अनुशासन पर निर्भर है राजदण्ड में ही वह ईश्वरीय शक्ति है कि नृशंस दुराचारी, डाकू, लुटेरे, शत्रु का भय नहीं रहता दीन लोग भी अपनी पर्णशालाओं में निर्भय रहते हैं इतना ही नहीं बल्कि राजा के धर्म से दैवउत्पात तक नहीं होते हैं । राजा के धर्म पर अकाल मृत्यु तक नहीं होती । इस प्रकार हमारे प्राण, धन, कुटुम्ब के धर्म की रक्षा करने वाला एकमात्र राजा है उसके हित पर आचरण करना ही हमारा हित है राजा का अहित सोचना ही अपना अनिष्ट है । मनुः—

एकमेवदहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥ ४॥
यस्य प्रसादे पद्मास्ते विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजमयो हि सः ॥ ५॥
अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुतो भयात्।
रक्षार्थमस्य लोकस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ६ ॥
चन्द्रानिलोष्णरश्मीनामग्नेश्च वरुणस्य च।
इन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥७॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।

अग्नि जिस पदार्थ को सम्पर्क करती है उसी को जलाती है राजा के साथ द्रोह करने से उत्पन्न अग्नि सारे कुल और धन को भस्म कर देती है ॥ ४ ॥

राजा तेजोमय शरीर होने से परमश्रद्धा के योग्य है। जिसके प्रसन्न होने से लक्ष्मी, पराक्रम में विजय, क्रोध में मृत्यु होती है ॥ ५ ॥

विना राजा के संसार में सब भय भीत होने लगे इस लिए संसार की रक्षा के हेतु परमेश्वर ने राजा उत्पन्न किया ॥ ६ ॥

सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण, कुबेर, यम, इन्द्र इनकी मात्रा से परमेश्वर ने राजा को बनाया है ॥ ७ ॥

क्योंकि आठ लोकपालों की मात्रा से राजा का शरीर बनता है,

तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ८ ॥
बालोपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ६ ॥

इससे सम्पूर्ण प्राणियों पर उसका तेज पड़ता है ॥ ८ ॥

राजा बालक भी हो तो भी उसका अनादर नहीं करना, यह महान् देवता मनुष्यरूप से टिका हुआ है ॥ ६ ॥

आर्यसिद्धांत के अनुसार राजा दिव्य शरीरधारी होने से सत्यसंकल्प होता है, जिसके ऊपर राजा चित्त में भला या बुरा चिन्तन करता है उसको वैसा ही फल ईश्वरीयशक्ति से मिलता है । इसलिए अनेक प्रकार से रक्षा करनेवाले राजा की जो अवज्ञा करता है या अनिष्ट सोचता है राजा यदि उसका कुछ भला बुरा फल न दे तथापि ईश्वरीय शुभ या अशुभ घटना से वह भले बुरे का फल तत्काल पाता है । एक राजा बड़ा न्यायशील था, सब प्रकार प्रजा के हित में तत्पर रहता था । किसी तरह कठोरता या स्वार्थ में उसका व्यवहार नहीं था, रात्रि दिवस न्याय को फैलाने में एकमात्र उसकी चेष्टा थी । राजा रात्रि को गुप्त चर वेश से अपनी प्रजा को हाल स्वयं देखता था कि चोर, तस्कर, दुर्वृत्त, महा-साहसिक लोग तथा मेरे कर्मचारी जिन पर मैं विश्वास रखता हूं ये लोग अपने निजके राग द्वेष से मेरे परमार्थ को

निदान कर्णपरम्परा से यह बात राजातक पहुँची, राजा अपनी रोगग्रस्तता तथा वृद्धावस्था के कारण अपने बालक युवराज को असमर्थ देख कुछ प्रतीकार न करसका, अपने मनमें ही चिन्तना की कि हे ईश्वर ! जिन पर मैं विश्वास रखता था वही कृतघ्न होकर इस काण्ड के रचयिता बने हैं। खैर राजा के संकल्पमात्र से ही क्या हुआ कि अकाण्ड वज्रपात होकर वे दुष्टचिन्तक राजद्रोही शीर्ण विशीर्ण शरीर होकर रसातल चुम्बन करने लगे। इसलिए अनेक प्रकार के उपकार करनेवाले राजा का जो अनिष्ट सोचता है, राजा के कुछ न करने पर भी ईश्वरीय दण्ड उसको तत्काल मिलता है।

सनातन आर्यावर्त धर्म के अनुसार राजा का पूजन, उसकी आज्ञा का पालन करना परम धर्म है। क्योंकि राजा ईश्वर की मूर्ति मानी गई है। इसलिये प्रजा का धर्म राजा की आज्ञा मानना और जो राजा के प्रतिनिधि हैं उनके अनुशासन पर आचरण करना। राजा का धर्म पुत्रवत् प्रजा का पालन व रक्षण तथा अनेक घोर विपत्तियों से बचाने के लिये विशेप प्रबन्ध करना अनादि काल से चला आता है।

वीरवरोपाख्यानम् ।

शूद्रक राजा के राज्यकाल में एक पुरुष वीरवर नाम का वहां आया उसने द्वारपाल से कहा कि राजा के दर्शन करने की मेरी इच्छा है राजा का दर्शन करा दीजिए। तब ड्योढीवान् न

तो नहीं बिगाड़ते हैं इत्यादि रीति से वह निरंतर सत्य धर्म का पालन करनेवाला था। एक समय राजा वन्य पशुओं के तथा वनस्पति के रक्षा को वन में भ्रमण करने गया, जब घर को लौटा अभी श्रांति दूर नहीं हुई थी कि इतने में चोपदार ने सूचना दी कि प्रभो! उर्वरापुरी को उसके प्रतिवेशी शत्रुओं ने लूट लिया। यह सुनते ही वह नरनाथ एकदम वहां पहुँचा उनकी रक्षा का विचार कर रहा था कि इतने में लुटेरों के दल ने राजा को घेर लिया। राजा को आपत्ति में देख एक दूत बोला, नरनाथ! आपके जीवन पर हमारे सबके जीवन हैं यह कराल समय है आप मेरे कांधे में चढ़ जाइये मैं आप को लेकर पीछे भाग जाऊंगा दूत की इस बात को सुन राजा बोला:—

(तन्मे प्राणव्ययेनापि जीवयेतान्ममाश्रितान्)

दूत, चाहे मेरे प्राण चले जायँ परन्तु ये मेरे आश्रित जो हैं उनकी रक्षा होनी चाहिए। इस अन्तराल में राजा का सैन्यदल भी वहां पहुँच गया और उन दुष्ट डाकुओं को हटा कर उर्वरापुर को निर्भय किया। डाकू कथावशेष हुए राजा अपनी राजधानी को पहुँचा, उर्वरापुरी के कुछ दुष्ट जन राजा के इस उपकार पर असन्तुष्ट हुए जिनकी इच्छा थी कि राज्य में उपद्रवस्वछन्द से निवास करें। कालान्तर में जब न्यायप्रिय राजा का शरीर वृद्ध हो गया तब उर्वरापुर के एक नीच वृत्ति के पुरुष ने राजा के विरुद्ध षट्चक्र रचा।

राजा की आज्ञा से राजा के समीप उसको पहुँचाया। राजा को नियमपूर्वक उसने वन्दना की महाराज की आज्ञा से एक स्थान पर बैठ गया, राजा ने पूछा क्या प्रयोजन तुम्हारा यहाँ आने का था, उसने उत्तर दिया, महाराज! राजा की सेवा करने को मेरी इच्छा है मुझे कुछ सेवा प्रदान कीजिए। मंत्रियों ने कहा कि क्या वेतन तुम लोगे, उसने उत्तर दिया पांचशत स्वर्णमुद्रा नित्य मेरा ख़र्च है, तब उन्होंने कहा कि तुम्हारे पास सेवा करने का क्या ऐसा साधन है? वीरवर बोला, दो हाथ और तीसरा खड्ग है। मंत्री लोग इतने वेतन पर उसको रखना उचित नहीं समझते थे किन्तु राजा ने आज्ञा दी कि कुछ दिन इसको रख लेना चाहिए। निदान उक्त वेतन पर वीरवर वहां नियत हुआ। वीर-वर को राजकोष से जो मिलता था उसका अधिकांश वह देवकृत्य तथा ब्राह्मणों को दान देता था कि जिससे राजा का मंगल हो और तीसरा हिस्सा दीन, दुःखियों को प्रदान कर अवशिष्ट एक चतुर्थांश से अपनी जीवनयात्रा करता था। इस तरह रात दिन खड्ग हाथ में लेकर राजा की डयोढ़ी पर घूमता रहता था, मनमें अपने स्वामी का शुभचिन्तन करता रहता था, जब राजा की आज्ञा होती थी तब अपने स्थान को जाता था। निदान कृष्णचतुर्दशी की अर्द्धरात्रि को कहीं से किसी स्त्री की बड़ी दुःखमयी रुदन की आवाज़ राजा के कान में पहुँची, राजा जाग उठा और वीरवर को देख बोला यह रोने की आवाज़ कहां से आ रही है इसका

पता लगाओ । वीरवर बोला जो आज्ञा, इतना कह उस शब्द के अनुसार चला । इधर राजा ने अपने मन में विचारा कि इस अर्द्ध-रात्रि में अकेला उस सेवक को अनिर्दिष्ट स्थानपर जाने की मैंने उचित आज्ञा नहीं दी इस प्रकार मन में विचारकर राजा भी उसके पीछे पीछे गुप्तवेश में चल दिया । वीरवर नगर के बाहर जाकर क्या देखता है कि दिव्यालंकारभूपिता, रूप यौवनवती एक स्त्री फूट फूट कर रो रही है। उसने स्त्री से पूछा कि तुम कौन हो, और किस लिए अर्द्धरात्रि में रुदन करती हो । स्त्री बोली मैं इस शूद्रक राजा की राज्यलक्ष्मी हूं, चिरकाल से इसके भुजबल में रही हूं, अब यहां से विदा होती हूं राजा के पूर्वप्रेम के वियोग का मुझे दुःख हो रहा है । वीरवर ने कहा जहां अपाय होता है, वहां उपाय का होना भी सम्भव है तो किस उपाय से आप फिर यहां विराज सकती हैं। वीरवर के वाक्य सुन वह राज्यलक्ष्मी बोली, यदि तुम अपने पुत्र शक्तिधर को जिसमें बत्तीस महापुरुप के लक्षण विद्यमान हैं, सर्वमंगला के समीप बलिदान करसको तब मैं पूर्व-वत् यहां स्थित रह सकती हूं । इतना कह लक्ष्मी अन्तर्धान होगई, वीरवर अपने घर गया और सोये हुए स्त्री, पुत्र को जगाकर लक्ष्मी ने जो कहा था उनको सुनाया । शक्तिधर वीरवर के पुत्र ने कहा यदि ऐसा है तो मैं धन्य हूं जिसके प्राण स्वामी के रक्षार्थ काम में आते हैं, धन्य है आज के समय को जो इस नश्वरशरीर से ऐसा उत्तम फल मिलताहै तो अब विलम्ब नहीं करना चाहिए। क्योंकिः—

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
तन्निमित्तो वरं त्यागो विनाशे नियते सति॥१०॥

बुद्धिमान को धन जीवन दूसरों के उपकार के लिए देना चाहिए, जब धन और जीवन यह नाशवान् वस्तु हैं तो इनको अच्छे प्रयोग पर त्यागना ही श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

शक्तिधर की माता बोली, स्वामिन् ! यदि आज इस बर्त्ताव को अपने स्वामी के लिए तुम न करोगे तो किस कर्म से इतने वेतन लेने का प्रत्युपकार दिखाओगे, अवश्य राजा के हित के लिए पुत्रबलि दीजिए । इस प्रकार आपस में सम्मति कर वह सब सर्वमंगला के मन्दिर में गये, उचित विधि से देवी का पूजन कर, वीरवर पुष्प हाथ में लेकर प्रार्थना करने लगा । हे देवि ! प्रसन्न होजाइये, महाराज शूद्रक की विजय हो, यह बलिदान लीजिए इतना कहकर पुत्र का शिर काटकर भगवती को समर्पण किया । तब वीरवर विचारने लगा कि महाराज की सेवा जो मुझे कर्तव्य थी वह मैंने करदी, अब विना पुत्र के मेरा जीना व्यर्थ है, इतना कहकर अपना शिर काट दिया । स्त्री ने भी पति, पुत्र को मृत्युशय्या में देखकर उसी मृत्युशय्या में शयन करने की इच्छा से अपना बलिदान किया । राजा इस सम्पूर्ण चरित्र को देख रहा है, इस प्रकार सच्चे सेवक का वियोग देख शोकार्त होकर बोला ।

जीवन्ति च म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः ।
अनेन सदृशो लोके न भूतो न भविष्यति॥ ११॥

मुझ सरीखे क्षुद्रजीव कितने ही उत्पन्न होते हैं, कितने ही मरते जाते हैं । किन्तु इसके तुल्य संसार में न कोई हुआ है और न होगा ॥ ११ ॥

इस प्रकार सच्चे भक्त के विना मुझे राज्य भी व्यर्थ है यह कहकर अपने शिर को जैसे खड्ग से पृथक् करने को उद्यत हुआ, वैसे ही भगवती सर्वमंगला साक्षात् हो राजा का हाथ पकड़ कर कहने लगी हे पुत्र ! तेरे भृत्यवात्सल्य से मैं प्रसन्न हूं इस तरह साहस मत कर, अब आनन्द के साथ राज्यलक्ष्मी को भोगिए। राजा अंजली बांध बोला हे देवि ! मुझे जीवन और राज्य से प्रयोजन नहीं, यदि आप प्रसन्न हैं तो मेरी आयुशेष से सपरिवार वीरवर जीवित हो-जाय, अन्यथा मैं अपने प्राणों को अर्पण करता हूं । भगवती ने वरदान दिया राजन् ! तुम्हारी सत्यता पर मैं प्रसन्न हूं, तुम्हारी विजय होगी और वीरवर सपरिवार जीवित हो जायगा, इतना कह देवी अन्तर्धान होगई । वीरवर सकुटुम्ब जीवित होकर घर को गया, राजा उससे छिपकर अन्तःपुर में चला गया । प्रातःकाल वीरवर से रात्रि का वर्णन पूछा, उसने उत्तर दिया महाराज ! वह रोती हुई मुझे देखकर अन्तर्धान हो गई और कोई वार्ता नहीं । यह सुन राजा को आश्चर्य हुआ कि किन शब्दों में इसकी प्रशंसा कीजाय, यह कोई महापुरुष है ।

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः ।
दातानापात्रवर्षी च प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः॥ १२॥
एतान् गुणांस्तात महानुभावानेको गुणः संश्रयते प्रसह्य । राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं सर्वान् गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥ १३ ॥

दानी होकर प्रिय वाणी बोलनेवाला हो, शूर होकर घमण्डी न हो, दाता होने पर अपात्रदानी न हो, प्रगल्भ होने पर कठोर भाषी न हो, यह महापुरुष के लक्षण इसमें घटते हैं ॥ १२ ॥

राजा ने प्रातःकाल मान्यपुरुषों की सभा में उसका सब वर्णन कहकर कर्नाटक का राज्य उसे दे दिया । राजा की सत्यभक्ति से ही सब प्राप्य है । राजा के आश्रय और प्रसन्नता पर ही सम्पूर्ण गुणों का प्रकाश होता है, चाहे कितना ही धनी या विद्वान् हो जब तक राजभक्तिरूपी अमृत पान न करे तब तक वह मान्यश्रेणी में नहीं आ सकता है ।

हे प्रिय ! जिन गुणों का हमने वर्णन किया है उन सब गुणों में बलवान् गुण यह है कि जब राजा जिसका सत्कार याने मान करता है तब सब गुण उसमें प्रकाशित हो जाते हैं, अर्थात् राजा के सन्मान पर ही गुणों का प्रकाश होना निर्भर है । प्रजावर्ग का परमधर्म है कि राजा के श्रेय के लिए अपने प्राण तक अर्पण करने में संकोच न करे ॥ १३ ॥

स्वाम्यर्थे यस्त्यजेत्प्राणांस्तस्य लोकाः सनातनाः १४

स्वामी के लिए जो प्राण तक दे देवे उसको ब्रह्मलोक होता है और सच्चे भक्त को राजा भी वैसा ही सम्मान देता है ॥१४॥

जब कि राजालोग धर्मशास्त्रानुसार प्रजा का पालन पुत्रवत् करते थे और प्रजा के दुःख-सुख में शामिल रहते थे तब प्रजा भी उनको ईश्वर तुल्य जानती थी जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं ।

भ्रातृप्रेम

शास्त्रों में ज्येष्ठ भ्राता को भी गुरुतुल्य माना है, जिस समय प्राचीन श्रद्धेय भारत का समुदाचार हमारे दृष्टिपथ में आता है, और परिवर्तमान प्रचलित व्यवहार को देखते हैं तो मनुष्यों के अकल्याण, अनैश्वर्य का यह प्रधान कारण प्रतीत होता है कि कुटुम्ब में भाई भाई से किस प्रकार स्वार्थान्ध होकर व्यवहार करते हैं और पूर्वकालीन भ्राताओं में किस प्रकार घनिष्ठ प्रेम व भक्ति थी। यद्यपि प्रातःस्मरणीय रामचन्द्रजी के वनवास और भरतजी के राज्यप्राप्ति के लिए भरत की माता कैकेयी ने मंथरा के उत्तेजन करने पर दशरथजी को उनकी पूर्व प्रतिज्ञा पर वाध्य किया था, तथापि जब यह दारुण समाचार सुनकर भरतजी अयोध्या आये और रामचन्द्रजी को वहां नहीं देखते हैं, उनके समीप जाने के प्रथम मान्या कौशल्याजी के चरणों में प्रणाम करते हुए समवेदन प्रकट करते हैं। कौशल्याजी सपत्नीपुत्र भरत को जानकर मोहवश तिरस्कार करती है कि तुम्हारे ही प्रपंच से आज मेरा पुत्र राम राजा होने के बदले वनचारी हुआ है। भरत माता के चरणों में अश्रुपात करता हुआ गद्गद् वाणी से कहता है।

राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते।
भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम्॥१॥
मद्यप्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः।

कामक्रोधाभिभूतश्च यस्यार्योनुमतं गतः ॥२॥
यदग्निदाहके पापं यत्पापं गुरुतल्पगे ।
मित्रद्रोहे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ३ ॥
कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम् ।
अधर्मो योस्य सोस्यास्तु यस्यार्योनुमतं गतः॥४॥
नात्मनः सन्ततिं द्राक्षी स्वेषु दारेषु कश्चन ।
आयुः समग्रमप्राप्य यस्यार्योनुमतं गतः ॥ ५ ॥

अर्थात् हे मातः ! जिसने धार्मिक रामचन्द्रजी के निष्कासन में सम्मति भी की हो उसको राजा के वध, स्त्रीवध, बालवध, वृद्धवध में और सेवक को विना अपराध बलात् अपराधी कर छोड़ने में जो पाप हैं वह पाप हों ॥ १ ॥

वह सुरापी, जुवारी, वैश्यागामी, कामी, क्रोधी हो, जिसने इस काम में सम्मति की हो ॥ २ ॥

अग्नि लगानेवाले, गुरुस्त्रीगामी, मित्रद्रोही को जो पाप होते हैं वह पाप उसको हों ॥ ३ ॥

उसकी सन्तान नष्ट हो जाय, स्त्री उसकी व्यभिचारिणी हो, वह अपनी आयु को न भोगे जिसने यह कर्म किया हो। क्योंकि सज्जनों के त्याग व वृत्तिछेदन में सम्मति देनेवाले को भी यह पाप होने हैं भरतजी ने कहा ॥ ४–५ ॥

सपत्नीक भ्राता भरत इस प्रकार शपथ करता है माता कौशल्या को सन्तोष कर भरद्वाज के आश्रम होते हुए भगवान रामचन्द्र के समीप पहुँच कर उनके वन्दनीय चरणों में मस्तक रख कर बार बार अपनी माता कैकेई के निष्ठुर व्यवहार पर शोक करते हुए उनको राज्य करने के लिए घर लेजाने का महान् अनुरोध करते हैं । कहते हैं प्रभो ! ज्येष्ठ भ्राता का ही राज्य करने का अधिकार है, आप नहीं जाते हैं तो मैं भी चरणों में ही बिचरूंगा। निदान अब पिता की जीवित-कालीन प्रतिज्ञा को उल्लंघन करना रामचन्द्रजी धर्मच्युत होना जान और भरत के हार्दिकभाव से प्रसन्न होते हुए अपनी पादुका उनको देकर कहा कि अच्छा इनका पूजन कर तुम इस शिक्षा पर राज्यशासन करो, हम प्रतीज्ञात समय को बिताकर आवेंगे ।

परस्त्री मातेव क्वचिदपि न लोभः परधने न मर्यादाभंगः क्षणमपि न नीचेष्वभिरुचिः । रिपौ सौर्यं धैर्यं विपदि विनयः सम्पदि सतामिदं वर्त्म भ्रातर्भरत नियतं यास्यसि सदा ॥ ६ ॥

हे भ्रातः भरत ! परस्त्री को मातृतुल्य, किसी के धन पर इच्छा न करना, कभी प्राचीन मर्यादा को न तोड़ना, नीच पुरुषों से क्षण भर भी साथ न करना, शत्रु से सौर्य, विपत्ति में धैर्य, सम्पत्ति में नम्रता रखने से तुम्हारा कार्य अच्छा चलेगा ॥ ६ ॥

इधर देखिए लक्ष्मण जो रामचन्द्रजी की सेवा में आत्मसमर्पण किए हुए हैं एक समय की बात है जब साध्वी सीता को रावण आकाशयान में बिठाकर चुरा कर ले गया था। सीताजीने रामचन्द्र जी को मार्ग बताने के लक्ष्य से कुछ आभूषण उतारकर भूमि में डाल दिए थे, तब रामचन्द्र उन भूषणों को लेकर लक्ष्मण को देते हैं और कहते हैं कि प्रिय ! तुम पहिचानो तो क्या यह भगवती सीता के ही अंगभूषण हैं, लक्ष्मण कहते हैं:—

कुण्डले नैव जानामि नैव जानामि कंकणे ।
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥७॥

प्रभो ! कान के कुण्डल और हाथ के कंकण को तो मैं नहीं पहिचान सकता हूं, किन्तु पायजेबों को में जानता हूं कि भगवती सीताजी के हैं । क्योंकि उनके चरणों में प्रणाम करती वेर मैंने इनको देखा था ॥ ७ ॥

विचारिये, भारतवर्ष के इस समुदाचार पर भरत, लक्ष्मण का सौतीया भाई होने पर भी किस तरह ज्येष्ठभ्राता और भ्रातृपत्नी से व्यवहार था । जिन्होंने राज्य को भी ज्येष्ठभ्राता के पूजा की अपेक्षा धूल समझा, ज्येष्ठभ्राता की पत्नी से माता के समान व्यवहार किया । देखिये इस समय में क्या अन्तर है, लिखते लज्जा आती है । यदि पूज्य कोटि में प्रविष्ट होना है तो भ्रातृप्रेम को खूब विचारिये, कर्कशा स्त्रियों के वशीभूत होकर भ्रातृप्रेमरूपी सदैश्वर्य को मत गवाँओ ।

विद्याप्राप्ति के साधन ।

विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि असूयकायाँ नृजवेऽयतायन मा ब्रूया वीर्यवती तथास्याम् । य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् तं मन्येत पितरं मातरञ्च तस्मै न द्रुह्या कतमच्च नाह । अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा । यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ १ ॥

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ २ ॥

उक्त श्रुतिवाक्यों से विद्यार्थी के कर्तव्य और विद्या के साधन और फल सब स्पष्ट दिखाये गये हैं । विद्याशब्द का अर्थ किसी बाह्य शिल्प का ज्ञानमात्र नहीं या इंद्रियों के केवल ज्ञान से नहीं बल्कि मानवीय जगत् में अलौकिक और दिव्य शक्तियों का प्रकाश और सञ्चार जिस प्रयत्नविशेष से मनुष्यदेह में होता है, उसको विद्या कहते हैं शेष कला और शिल्प हैं ॥ १ ॥

इस नीतिकार के अनुभवसे भी परोक्षज्ञान विद्या का फलहै॥ २॥

विद्याश्चाविद्याश्च यस्तद्वेदोभय ँ सह अवि-द्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ३ ॥

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ ४ ॥

वेदवाक्य से स्पष्ट है कि विद्या की प्राप्ति से मनुष्य अजर अमर हो जाता है ॥ ३ ॥

मनुष्यदेह का मुख्य लक्ष्य दिव्यशक्तियों की प्राप्ति का है, तमसा विभूत सांसारिक देह में दिव्य शक्तियों का साक्षात्कार होना बिना साधन सम्पत्तिके नहीं हो सकता। जीव अनेक योनियों में इन्द्रियों के स्पर्शों को भोगता हुआ मनुष्ययोनि में ही साधनसम्पन्न हो सकता है यदि प्रमादवस साधनसामग्री में त्रुटि होजाय तो फिर चौरासी का फेरा अनिवार्य होजायगा ।

यह शक्ति केवल अखबारबाजी करने से, या उपन्यासपाठ या स्वयं पुस्तकों को रटन करने से, या क्लब सोसाइटियों की बैठक से प्राप्त नहीं होगी । जब उनका क्रमपूर्वक अनुशासन किया जायगा तबहीं वह सम्पत्ति प्राप्त होवेगी ।

अब इनकी प्राप्ति के लिए गुरु विद्याप्राप्ति का स्थान विद्यार्थी के व्रत इनकी आवश्यकता है, अन्यान्य विद्याओं के पारंगत होने पर भी गुरु ब्रह्मविद्या निस्नात होना चाहिए। आत्मज्ञान के विना अनुशासन या दूसरे में प्रभाव डालना नहीं हो सकता इसलिए गुरु और राजा को अध्यात्मविद्यानिष्ठ होना चाहिए ॥४॥ मनुः—

आन्विक्षकिं चात्मविद्ध्योः

वेदों में स्पष्ट आज्ञा है कि विद्याप्राप्ति गुरु की कृपा विना नहीं हो सकती है। बालक के ऊपर माता, पिता, गुरु के आचार का प्रभाव निरन्तर पड़ता है संस्कार जो द्विजातियों में विहित हैं उनका प्रधानतया लक्ष्य वैजिक, गार्भिक दोषों का दूर कर शारीरिक, मानसिक निर्मलता से है। संस्कारोत्तर बालक गुरुकुल में प्रविष्ट करवाये जाते थे, विद्याव्रत परिसमाप्ति काल तक उनका समावर्तन नहीं होता था। इस प्रकार आर्षकालीन पठनशैली थी अन्तराल समय में माता, पिता के पास लौटना प्राश्यश्चित्त समझा जाता था। तब उन बालकों पर यदि गृहस्थ में कोई अनौचित्य स्पन्दन हुआ हो तो माता, पिता के कोई दूषित संस्कार बालक की मानसिक वृत्ति को विघ्नकारी नहीं होते थे। गुरुजनों की विद्यापीठ प्राय: उन पावन स्थलियों में रहती थी, जहां वन्यभूमि देवस्थान हो, जहां आकाशतत्त्व निर्मल हो वहां पर भी प्रायश्चित्तादि व्रतों के करने से किसी प्रकार के दोषों की उद्भावना कदापि नहीं हो सकती थी। अद्यावधि उत्तर भारत केदारखण्ड में कपिलाश्रम, कण्वाश्रम, जामदग्न्याश्रम भूमि है जिस काल में इन भूमियों में निरन्तर सारस्वत व्रत को धारण किये हुए महर्षिसंघ विराजते थे, वह समय भारत का शान्तिमय कहा जाता था। अन्न, जल, वायु जो जीवन के आधार हैं यह सब पुण्यरूप थे जब विद्याप्राप्ति ही विधिपूर्वक न हुई तो अविधि प्रयोग से अन्न, जल, वायु,

अग्नि पापरूप होकर देशोपद्रवकारी होजाते हैं । विद्या की उपयुक्तता अर्थात् पूर्ण योग्यता चार प्रकार से होती है आगमकाल, स्वाध्यायकाल, व्यवहारकाल, प्रवचनकाल इतना ही उपदेश पर्याप्त होगा जिस विधि से जैसे देश में अध्ययन किये हुए मनुष्य महर्षि, मुनि, ऋषि की पदवी को अलंकृत कर गये वह नियम अधिकांश श्रद्धेय हो सकते हैं उनकी अपेक्षा में जहां अपूर्ण ज्ञान से क्षयरोगादि के केवल विद्यार्थी होते जाते हैं कौन पथ आश्रयणीय है यह इतना ही से ज्ञान हो सकता है । जिस तरह उत्तम बीज वपन करने के प्रथम भूमि का संस्कार करना परम आवश्यक है, इसी प्रकार विद्यारूपी बीज वपन करने के प्रथम विद्यार्थी की चित्तभूमि का संस्कार करना योग्य है वह संस्कार व्रत और नियम पर निर्भर है व्रत का अर्थ महर्षि पतंजलि लिखते हैं:—

व्रतश्च नामाभ्यवहारार्थं उपादीयते ।
एवं क्रियमाणं अभ्युदयकारि भवति ॥ ५ ॥

अर्थात् दूसरे व्यवहार से भी काम चल सकता है किन्तु ऋषियों की विधि से काम करने से अभ्युदयकारी होता है अर्थात् विना व्रत के भी विद्या पढ़ सकता है किन्तु अभ्युदयरूपी फल इसी विधि से प्राप्त हो सकता है ॥ ५ ॥

गुरुलोग कुशासन पर बैठकर पूर्वाभिमुख होकर विद्यार्थी को

विद्यादान करते थे वहां खच्चरों के वाह्ययोग्य पुस्तक भार, या रात दिन के रटने से नेत्रहीन, क्षयरोगी बनने का कराल अवसर प्राप्त नहीं होता था। बल्कि गुरु के स्वल्प उपदेश पर मेधा-शक्ति इस प्रकार समुज्ज्वल होती थी गुरुलोगों के सूत्ररूप उपदेश से विद्या साक्षात् हो जाती थी।

सुकेशा च भारद्वाजश्च सत्यकाम भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नास्तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा संवत्सरं संवत्सथ यथाकामान् प्रश्नान् पृच्छथ ॥ ६ ॥

सुकेशा, भारद्वाज, सत्यकाम आदि ऋषि पिप्पलाद के पास विद्या पढ़ने गये। पिप्पलाद ने कहा कि एक संवत्सर तक तुम व्रतपूर्वक निवास करो, तब मैं जो कुछ तुमलोग पूछोगे बता दूंगा ॥ ६ ॥

उस समय विद्यार्थी से यह प्रतिज्ञा नहीं कराई जाती थी कि एक या दो घंटे पढ़ाने की यह फीस ठैरा लो बल्कि उसको व्रताचरण, तपस्या की आवश्यकता समझाई जाती थी। विद्या की प्राप्ति दुष्कृतोपादित धन व्यय से नहीं होती है, बह केवल विधिपूर्वक व्रताचरण द्वारा गुरूपदेश से होती है। जिन्होंने पढ़ा है वे जान सकते हैं कि विद्या का प्रकाश विद्यार्थीदशा के शुद्धव्रत व मलिन व्यवहार पर निर्भर है। पढ़े हुए पशु अनपढ़ विद्वान् इसके उदा-

हरण हैं । यदि पढ़कर भी टेढी चाल, तिर्छी मुद्रा, दम्भाचरण, अदूरदर्शिता ये विधिसाधन के रोग हैं वे रोगी वैद्यकविज्ञान के शत्रु सुशीलजीवनी के गलग्रह हैं ।

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तꣳह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्याऽस्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवति सह द्वादशवर्षं उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षं सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचान मानीस्तब्ध एयाय ॥ ७ ॥

श्वेतकेतु को उसके पिता ने उपदेश किया कि बारह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करो तब वास्तविक विद्या की प्राप्ति हो जायगी क्योंकि हमारे कुल में अभी तक कोई अविद्वान् नहीं हुआ इसी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से श्वेतकेतु पूर्व ब्रह्मज्ञानी होगये ॥७॥

उपकोशलो ह वै कामलायनः सत्यकामो जावाले ब्रह्मचर्यं उपास तस्य द्वादशवर्षाण्यग्नीन् परिचचार ॥ ८ ॥

सत्यकाम जावालि के आश्रम में विद्या पढ़ने गये उन्होंने उपदेश दिया कि द्वादश वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत धारण करो, तब उस व्रत के प्रभाव से तुम्हें विद्या साक्षात्कार होवेगी ॥ ८ ॥

वह समय इस देश की पूजा का था जब व्रत नियमनिष्ठ ब्रह्मचारी इस देश में विचरण करते थे उस समय इस देश की यह प्रतिष्ठा थी कि:—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥६॥

इस देश के आदर्श पुरुष देशान्तरीय मनुष्यों के शिक्ष्य कहाते थे ॥ ६ ॥

विद्यार्थियों को विशेष बातें

(१) नित्य उषाकाल में जागना ।

(२) प्राणायाम नित्य बढ़ाते जाना प्राणायाम करने से वृत्ति स्थिर होकर प्रतिभाशक्ति का संचार होने लगता है ।

(३) वस्त्र सीधेसादे स्वच्छ धारण करना, जिससे पवित्रता और निरभिमानता बनी रहे ।

(४) दौर्बल्य न हो तो सीतजल से स्नान करना ।

(५) भोजन लघुपाक सात्त्विक होना चाहिए ।

(६) मानाभिमानरूपी मल से बचने का प्रयत्न नम्रभा है ।

(७) बाज़ारों में घूमना, गप्पबाज होना यह रोग हैं ।

(८) जो कुछ बात कहे उसको सत्य से विशुद्ध कर ले

(९) स्मृति बढ़ाने का प्रथम उपाय पवित्राचरण, लघु भोजन, प्राणायाम, एकान्तवास हैं ।

(१०) ब्रह्मी, पीपल, कालीमिर्च, मिशरी मिलाकर तुलसीपत्र के साथ नित्य सेवन करे ।

(११) प्रतिमास दो या तीन व्रत अवश्य करे ।

(१२) पाठ दो प्रकार से याद रहता है (क) शाब्दीभावना (ख) आर्थीभावना ।

(१३) शाब्दीभावना शब्द के प्रथम अक्षर को याद रखनी उससे पाठ याद कर लेना ।

(१४) आर्थीभावना शब्द के अर्थ को स्मरण रखकर उसके अनुसार शब्द को याद कर लेना ।

(१५) आस्तिकता, चित्तशुद्धि सबसे प्रथम प्रयोजनीय उपाय हैं।

यौवनविज्ञान ।

बाल्यावस्था के परिवर्तन होने पर मनुष्य युवावस्था में प्रवेश करता है । यह वह अवस्था है जब उसके शरीर की शक्तियों में पूर्ण जाग्रति हो जाती है और उन शक्तियों का जैसे जैसे विकाश बढ़ता जाता है, वैसे वैसे वे शक्तियां प्रबल होती जाती हैं । इस अवस्था में मनुष्य का केवल रंग ढंग ही नहीं बदल जाता वरन् उसका मन और शरीर भी सम्पूर्णरूप से नया हो जाता है । उसका सारा कलेवर ही और का और हो जाता है, यह परिवर्तन बालक-बालिकाओं के प्रायः चौदहवें वर्ष से होने लगता है ।

जिस प्रकार लौकी और कुम्हड़े की लता में पहिले पहिल फल देखकर हम इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि अब इनमें फल लगने वाले हैं पर यह नहीं समझते कि ये पहिले पहिल के फूल थोड़े ही काल में मुर्झाकर झड़ जायँगे । उसी प्रकार यौवनकाल की क्षणिक उत्तेजना और बल का अनुभव कर जो अज्ञानी युवक अपने को पूर्णतया योग्य समझ बैठे हैं और सांसारिक सब कामों में अपना सिक्का जमाते हैं, वे अपनी दुर्बलता से शीघ्रही

दुःखित होजाते हैं, और फिर पश्चात् प्रौढ़ अवस्था में बहुत पश्चात्ताप करते हैं ।

यौवनकाल के आते ही मनुष्य के अन्दर जीव तंतु की क्रिया में परिवर्तन होता है और वैज्ञानिकों का मत है कि इस अवस्था में प्रवेश करते ही मनुष्य के शरीर में एक ऐसा द्रव्य पैदा होजाता है जो अन्दर ही अन्दर पसीज कर रुधिर में मिलजाता है । इसी द्रव्य के प्रभाव से हम सबों में इतनी तीव्रता, आंखों में ज्योति, मुखपर सुन्दरता, छाती में अकड़, चालमें गर्व इत्यादि हो जाती है ।

यद्यपि युवावस्था ही जीवन के सम्पूर्ण भावों को विकाश करनेवाली बलवान् अवस्था है, तथापि इस अवस्था में प्रायः इन्द्रियों का वेग अनिवार्य हो जाता है, और मनुष्य अपने काबू में नहीं रहता और ऐसे ऐसे पापों के करने पर उतारू होजाता है कि उसे जीवनपर्यन्त कभी सुखप्राप्ति नहीं होती ।

युवा पुरुष को सदैव पद पद पर खबरदार रहना चाहिए और जिन जिन बातों से उसका दैहिक तथा मानसिक संबंध है उन उन बातों को उसे शुद्ध करलेना चाहिए । युवा अवस्था ही का दूसरा नाम गृहस्थाश्रम है अथवा इसी में मनुष्य गृहस्थ हो जाता है । अतएव इस अवस्था में आतेही मनुष्य का कर्तव्य है कि वह विवाह करे । विवाह कोई साधारण बात नहीं, न वह जैसा कि आजकल गुड्डा, गुड़ियों का खेल मान रक्खा है । वरन् एक पवित्र संबंध है जिस पर सारे जीवन का दारोमदार है, अतएव हमें इसे

ज्योतिषशास्त्र के आनुभविक सिद्धान्तों के अनुसार विचार कर करना चाहिए ।

ये विचार तीन प्रकार के हैं :—

(१) जन्मपत्री या सामुद्रिक विचार

(२) शारीरिक बल के अनुसार

(३) वात्स्यायन ऋषि के कामसूत्र के अनुसार

वात्स्यायन ऋषि के मतानुसार स्त्रियां चार प्रकार की होती हैं।

१. पद्मिनी.

२. चित्रिणी.

३. शंखिनी और

४. हस्तिनी.

स्त्री शब्द को संस्कृत में नारी कहते हैं । नारी शब्द का अर्थ 'न अरि' अथवा जो दुश्मन न हो उसे नारी कहते हैं ।

पद्मिनी वह नारी है जिसमें ये गुण विद्यमान हों । मुख चंद्रमा के समान, शरीर मांसल शिरसा के पुष्पों के समान कोमल, पीतकमल के समान सुन्दर वर्ण जिसमें कृष्णवर्ण का लेश भी न हो और जो युवावस्था में जैसे कि आसन्न मेघ की भांति प्रतीत हो, जिसके कान लाल रक्त के समान हों, जिसके स्तन सुन्दर व कठोर, जिसकी नासिका लम्बी हो, उसका कंठ कंबुसमान सुन्दर होता है । उसका काम सलिल नव खिलित नलिनी की सुगन्धि के समान सुगन्धित होता है । उसकी चाल राजहंस की चाल के सदृश

होती है । उसका वार्तालाप मधुर कोकिल पक्षी के भांति होता है और उसे श्वेत वस्त्र धारण करने में अति आनन्द होता है । वह अल्प भोजन करती; थोड़ा सोती, और जिस प्रकार वह चतुर तथा विनीत होती है उसी प्रकार पूज्य तथा धार्मिक भी होती है । उसका चित्त सदैव ईश्वरसेवा में लगा रहता है और उसे साधु, महात्माओं से वार्तालाप करने में अति आनन्द मिलता है । ऐसी नारी का संबन्ध हंसजाति के मनुष्य से होना चाहिए ।

चित्रणी नारी के गुण :—इसका कद साधारण न बहुत छोटा न लम्बा, मधु मक्षिकाओं के समान काले केश, कृपांगी, गोल और शंख के समान कंठ, कोमल शरीर, सिंह के समान कटि, उसकी चाल विलासपूर्ण हाथी की चाल के समान और वाणी मयूर के समान होती है । गानविद्या की प्रेमी होती है, उसकी विषय-वासना बहुत तीव्र होती है और उसे तोता, मैना इत्यादि पक्षियों से बहुत प्रेम होता है । ऐसी नारी का संबन्ध शशजाति के पुरुषों से होना अति उत्तम है ।

शंखिनी नारी के गुण :—यह पैत्तिक प्रकृति होती है । इसका शरीर सदैव गरम तथा स्थूल वर्ण पिंगल होता है । कटि भारी, हाथ, पैर तथा सर छोटा होता है । उसकी वाणी कर्कशा तथा कटु होती है । उसे अच्छे अच्छे वस्त्र पहिरने तथा पुष्प व आभरण पहिरने में अति आनन्द होता है । ऐसी नारी का संबन्ध वृषभ पुरुष के साथ होने में जीवन भर सुख होता है ।

हस्तिनी स्त्री के लक्षण :—कद छोटा, हृष्टपुष्ट, स्थूल शरीर, वाणी कटु और कंठ झुका हुआ होता है। उसकी चाल धीमी होती है। ऐसी नारी अश्व पुरुष के योग्य है।

इस प्रकार वात्स्यायन ऋषि के सिद्धान्तों के अनुसार संबन्ध हो तो स्त्री पुरुष को जीवन भर आनन्द प्राप्त होता है।

इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं।

१. हंस
२. शश
३. वृषभ
४. अश्व

हंस पुरुष के लक्षण पद्मिनी नारी के समान होते हैं। मुख चंद्रमा के समान, शरीर मांसल, मस्तिष्क ऊंचा। मृग के समान नयन, सिरसपुष्प के समान कोमल शरीर इत्यादि। यह मनुष्य बड़ा तेजस्वी व धार्मिक होता है और ईश्वरप्रेम में सदैव अनुरक्त रहता है।

शश पुरुष के लक्षण चित्रिणी नारी से मिलते हैं और वह ऐसी (चित्रिणी ही) नारी के योग्य कहा है।

वृषभ पुरुष के लक्षण शंखिनी नारी के योग्य हैं और उसका संबंध शंखिनी नारी से होना चाहिए।

अश्व पुरुष का संबंध हस्तिनी नारी से होना चाहिए क्योंकि शास्त्रों के अनुसार इसके लक्षण हस्तिनी नारी से मिलते जुलते हैं।

स्त्री-पुरुष का कर्तव्य

मनुष्यजाति के अतिरिक्त दूसरे जीवों को इतनी शीघ्रता से प्रौढ़ होते देखकर यह ज्ञान पड़ता है कि उनसे प्रकृति का केवल यही अभिप्राय है कि जैसे तैसे वे सहवासक्रिया के योग्य होजायँ, बच्चे जनें व मरजायँ । उनके जीवन का दूसरा उद्देश्य ही नहीं होता । इसके प्रतिकूल संतानोत्पत्ति से ही मनुष्य का जीवन सार्थक नहीं होता । वह अपनी आयुभर अपनी जाति और राष्ट्र के शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक स्वभाव में यत्न करके अपने युग के धर्म और सभ्यता में योग देता है । संतानोत्पत्ति में उतावली करने से हानि होना सर्वथा निःसंदेह है । जो मनुष्य नारी पुरुष का संबंध केवल पशुओं की नाईं विषय के लिए समझे हुए हैं वे नर स्वयं पशु हैं और उनसे जो संतान उत्पन्न होती है वह प्रायः मातृ-पितृभक्त नहीं होती, वह विषयकामना में पशु-समान तत्पर रहती है । इसके अतिरिक्त अनुचित व अनियम स्त्री पुरुष के सहवास से उत्पन्न हुए बालकों में अनेक रोग होते हैं और अपने माता पिता के अत्याचार से ये निर्दोष बालक इन पैतृक-रोगों से पीड़ित जीवन भर घोर यातना में तड़फते रहते हैं । अतएव युवावस्था को स्त्री पुरुष के धर्म (रतिधर्म) को शास्त्ररीति पर जान लेना चाहिए अन्यथा पातकी, दरिद्री और निर्बल सन्तान होना अवश्य है ।

पुरुष को वीर्यरक्षा करना अर्थात् ब्रह्मचर्य से रहना सब धर्मों से श्रेष्ठ है । वीर्य को अनुचित और दूषित रीति से नष्ट करने में भ्रूणहत्या का पाप लगता है । वीर्यरक्षा के निमित्त कुछ बातें अगले अध्याय में लिखी जायँगी ।

स्त्री-पुरुषसहवास नियम अनुसार और समय पर होना चाहिए । याज्ञवल्क्य में कहा भी है:—

षोडशर्तु निशा स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत् ।
ब्रह्मचर्यैव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत् ॥

मनुष्य को उचित है कि ऋतुस्नाता स्त्री को जब ४ दिन हो जायँ तब १६ दिन तक गर्भधारण के निमित्त स्त्री के साथ सहवास करे ।

यह सहवास अमावास्या, संक्रान्ति के दिन निषेध है । इन दिनों में सहवास करने से आयु का नाश हो जाता है और जीवनपर्यन्त प्रमेहादिरोगों से पीड़ित रहता है ।

जब स्त्री या पुरुष के व्रत हों, या ज्वरादि रोग से व्यस्त हों, या चित्त में कोई शोक हो, या व्यायाम करके आया हो, या मन शान्त न हो, या स्त्री को रजोधर्म होने में ६ दिन बाकी हों ऐसे समय में सहवास कदापि न करना चाहिए ।

इसी प्रकार देवमंदिर, धर्मसंबंधी आदि स्थानों में सहवास करने से मनुष्य की आयु क्षीण होती है ।

गर्भ के पश्चात् व गर्भधारण समय माता, पिता को शान्त-

चित्त और धार्मिक रहना चाहिए । जैसी माता, पिता की गर्भ-धारण समय में वृत्ति रहती है ठीक वैसी ही वृत्ति संतान में हो जाती है । अतएव गर्भावस्था में नियमपूर्वक रहना चाहिए ।

स्वप्रदोष

वीर्य का अन्दरही अन्दर घुलना सदैव उत्तम है । उसका उपयोग केवल संतानोत्पत्ति के लिए है । १८ वर्ष तक के बालक का संतानोत्पत्ति से कोई भी संबंध नहीं । बेचारे की न अभी हड्डियां बनी हैं न अंग पका है न विद्याअध्ययन समाप्त हुआ है, और न जीविका ही का कोई सहारा ठीक हुआ है । शास्त्र व समाज की ओर से भी यह बात निषेध है ।

आज कल के नवयुवकों को देखिए । १६ या १७ वर्ष की अवस्था में ही उनकी ६० या ७० वर्ष की अवस्थावालों की सी दशा हो जाती है । होठों पर पपड़ियां पड़ जाती हैं, सिरके बाल झड़ जाते हैं, वदन का चमड़ा ढीला हो जाता है, चेहरा पीला हो जाता है और ये युवकगण क्षयरोग से पीड़ित होकर सदैव नैनीताल, अलमोड़ा आदि स्थानों में हवा खाने के लिए तत्पर रहते हैं ।

अब यह विचार करना चाहिए कि उनकी यह दुर्दशा क्यों होती है । यह सब उनके दुश्चरित्रों का परिणाम है । ये सब आजकल जो नवयुवक बुरे बुरे उपन्यास पढ़ते हैं, बुरी सुहबत में रहते हैं उन्हीं का फल है, गीता में कहा है:—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

जब मनुष्य बुरी पुस्तकों को पढ़कर या बुरी संगति में रहकर अपने ध्यान को विषयवासना की ओर ले जाता है तभी उसे बुरी बातों का संग होता है अतएव अपनी वीर्यरक्षा और शरीररक्षा के लिए मन के भाव और मन के संकल्प को उन पुस्तकों और पवित्र संगति जिससे मन के भाव शान्त और लज्जा-वान् स्वभाव बने, पढ़कर करना चाहिए । अतः शास्त्र में लज्जा (ह्री) धर्म का प्रधान अंग युवावस्था का सहायक बताया है । यह बात दृढ़ता के साथ समझ लेनी चाहिए कि इस संसार में हमारे भले, बुरे परिणामों का प्रबल कारण हमारा संकल्प है । जैसे जैसे संकल्प मनुष्य के मन में उदय होते हैं वैसे वैसे कार्यों से उसका संबंध बलात् होता जाता है । अतएव नित्य शुद्ध, पवित्र संकल्प बनाना ही जीवन का प्रधान कर्तव्य है ।

यह सत्य है कि प्रत्येक नवयुवक का समय समय पर निद्रा में वीर्य स्खलन होता जाता है, यह भी उनके अपवित्र संकल्प का परिणाम है । ऐसी ही जब उनके मन में अपवित्र भावनाएं सताने लगती हैं, तब वे नवयुवक हस्तमैथुनक्रिया करने में लग जाते हैं, जिससे वीर्य को अनुचित रीति से पात करते हैं जो बिलकुल निषेध है । इसी प्रकार परस्त्रीगमन आदि अन्य व्यभिचार जिनके द्वारा वीर्य शरीर से धक्का देकर बाहर व्यर्थ फेंका जाता है सहस्रबार

अधिक हानिकारक है । पर वे इसे तब तक बिलकुल ही नहीं समझते जब तक कि प्रमेह, उपदंश आदि घृणित रोगों के ग्रास नहीं होते । हाय ! इस दशा से हमारे नवयुवकों को सावधान रहना चाहिए और अपने जीवन को ऐसे ऐसे घोर परिणाम-वाले रोगोंसे बचाना चाहिए जिससे कि उनकी संतान पूर्ण आयु पावें और सुखसे अपनी आयु बितावें ।

आचारप्रकरणम्

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः १ ॥
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥ २ ॥
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ३ ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ ४ ॥

वेदोक्त तथा स्मृत्युक्त आचार ही परमधर्म कहा है, इस कारण नित्य उस धर्म में तत्पर ब्राह्मण आत्मवेत्ता होता है ॥ १ ॥

आचारहीन ब्राह्मण वेद के फल को नहीं पाता, आचार से युक्त ब्राह्मण सम्पूर्ण वेद के फल का भागी होता है ॥ २ ॥

मुनियों ने आचार से धर्म की गति को देखकर सम्पूर्ण तप के मूल आचार का ग्रहण किया ॥ ३ ॥

अपने कर्मों में अच्छी तरह बँधे हुए वेद तथा स्मृति में कहे हुए धर्म के मूल सदाचार का निरालस्य से सेवन करे ॥ ४ ॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ५ ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ ६ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ ७ ॥
शतायुरुक्तः पुरुषः शतवीर्यश्च जायते ।
कस्मान्म्रियन्ते पुरुषा बाला अपि पितामह ॥ ८ ॥

मनुष्य आचार से आयु को पाता है आचार से इच्छानुकूल संतान को पाता है और आचार से ही अविनाशी (नित्य) धन को पाता है और दुराचार को आचार ही नाश करता है ॥ ५ ॥

दुराचारी मनुष्य निश्चय ही संसार में निन्दनीय दुःख का भागी होता हुआ व्याधि से युक्त तथा अल्पायु होता है ॥ ६ ॥

जो मनुष्य सब लक्षणों से हीन होकर भी सदाचारी तथा विश्वासी व अनीर्षी हो वह सौ वर्ष जीता रहता है ॥ ७ ॥

हे पितामह ! मनुष्य को सौ वर्ष जीनेवाला तथा शतवीर्यवाला कहा है तो वे मनुष्य बालक ही कैसे मरजाते हैं ॥ ८ ॥

आयुष्मान्केन भवति अल्पायुर्वाऽपि मानवः ।
केन वा लभते कीर्तिं केन वा लभते श्रियम् ॥ ९ ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण जपहोमैस्तथौषधैः ।
कर्मणा मनसा वाचा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १० ॥
अत्र तेऽहं प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वमनुपृच्छसि ।
अल्पायुर्येन भवति दीर्घायुर्वापि मानवः ॥ ११ ॥
येन वा लभते कीर्तिं येन वा लभते श्रियम् ।
यथा वर्तयन्पुरुषः श्रेयसा संप्रयुज्यते ॥ १२ ॥

मनुष्य शतायु कैसे होता है तथा अल्पायु कैसे होता है, किस तरह कीर्ति को पाता है और लक्ष्मी को भी किस तरह पाता है ? ॥ ९ ॥

हे पितामह ! तप, ब्रह्मचर्य, जप, होम व औषध तथा कर्म व मन, वाणी इन में से किस से मनुष्य दीर्घायु होता है वह मुझ से कहो ॥ १० ॥

भीष्म ने कहा इस विषय में जो तू मुझसे पूछता है वह, जिससे मनुष्य अल्पायु तथा दीर्घायु होता है मैं तुझसे कहता हूं ॥ ११ ॥

अथवा जिससे कीर्ति को पाता है तथा लक्ष्मी को पाता है और जिसके करने से मनुष्य कल्याण को पाता है ॥ १२ ॥

आचाराल्लभते चायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचाराल्लभते कीर्तिं पुरुषः प्रेत्य चेह च॥ १३॥
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्।
यस्मात्त्रसन्ति भूतानि तथा परिभवन्ति च॥ १४॥
तस्मात्कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद्भूतिमात्मनः॥१५॥
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम्।
आचारलक्षणो धर्मः सन्तः सत्कर्मलक्षणाः॥ १६॥
साधुता च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्॥ १७॥

मनुष्य इस लोक तथा परलोक में आचार से ही आयु, और आचार से ही लक्ष्मी तथा कीर्ति को पाता है॥ १३॥

दुराचारी मनुष्य इस संसार में पूर्ण आयु को नहीं प्राप्त होता और उससे सब जीव डरते तथा तिरष्कृत होते हैं॥ १४॥

इसलिये ऐश्वर्य चाहनेवालों को चाहिए कि आचारवान बनें॥ १५॥

चाहे सम्पूर्ण शरीर पाप का ही पुंज क्यों न होवे, आचार से सब दोष दूर हो जाते हैं, धर्म का लक्षण आचार और सत्कर्म सज्जनों का लक्षण है॥ १६॥

सज्जन पुरुषों का जो व्यवहार है उसी को आचार कहते हैं॥ १७॥

ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्राभिलंघिनः ।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ॥ १८ ॥
विशीलभिन्नमर्यादा नित्यसंकीर्णमैथुनाः ।
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ॥ १९ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ २० ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां सन्ध्यां कृताञ्जलिः॥२१॥

जो नास्तिक, कर्मरहित तथा गुरु व शास्त्र का उल्लंघन करनेवाले, अधर्म करनेवाले व दुराचारी होते हैं वे क्षीण आयु होते हैं ॥ १८ ॥

जो मनुष्य दुष्ट स्वभाववाले, मर्यादा को उल्लंघन करनेवाले तथा नित्य अतिमैथुन करनेवाले होते हैं वे इस संसार में अल्पायु तथा नरकगामी होते हैं ॥ १९ ॥

सब लक्षणों से हीन भी सदाचारवाला, विश्वासी तथा ईर्ष्या न करनेवाला मनुष्य सौ वर्ष जीता है ॥ २० ॥

ब्राह्ममुहूर्त में जागे और पश्चात् धर्म और अर्थ की चिन्ता करे फिर उठ आचमन कर हाथ जोड़ प्रातःकालिक सन्ध्या की उपासना करे ॥ २१ ॥

एवमेवापरां सन्ध्यां समुपासीत वाग्यतः ।
नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन ॥
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ २२ ॥
ऋषयो नित्यसंध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन् ।
तस्मात्तिष्ठेत्सदा पूर्वां पश्चिमां चैव वाग्यतः॥२३॥
ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम् ।
सर्वांस्तान्धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि धारयेत्॥२४॥
परदारा न गन्तव्याः सर्ववर्णेषु कर्हिचित् ।

इसी प्रकार मौनभाव से सायंकालिक संध्या की भी उपासना करे और उदय तथा अस्त होतेहुए तथा जलस्थ सूर्यप्रतिबिम्ब को व मध्य आकाश में स्थित हुए सूर्य को कदापि न देखे ॥ २२ ॥

ऋषि लोगों ने नित्य संध्या की उपासना करके दीर्घ आयु प्राप्त की, इसलिये नित्यही प्रातः तथा सायंकाल ध्यानपूर्वक सन्ध्या की उपासना करे ॥ २३ ॥

जो ब्राह्मण प्रातःकाल तथा सायंकाल की सन्ध्या की उपासना नहीं करते उनको धार्मिक राजा शूद्रकर्मों में नियत करे अर्थात् जो व्यक्ति ईश्वर की उपासना नित्य न करे वह राजा को कभी भी हितकर नहीं है ॥ २४ ॥

कभी भी किसी वर्ण की क्यों न हो किन्तु परस्त्रीगमन

नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ॥ २५ ॥
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ २६ ॥
यावन्तो रोमकूपाः स्युः स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिताः ।
तावद्वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते ॥ २७ ॥
प्रसाधनं च केशानां मञ्जनं दन्तधावनम् ।
पूर्वाह्ण एव कार्याणि देवतानां च पूजनम् ॥ २८ ॥
नाज्ञातैः सह गच्छेत नैको न वृषलैः सह ।
उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्न धारयेत् ॥ २९ ॥

न करे, क्योंकि संसार में परस्त्रीगमन से अधिक अनायुष्य कुछ नहीं है ॥ २५ ॥

जैसा पाप मनुष्य को इस संसार में परस्त्रीगमन करनेसे होता है ॥ २६ ॥

जितने स्त्रियों के शरीर में बालों के कूप हैं उतने वर्ष परस्त्रीगामी मनुष्य नरक में रहते हैं ॥ २७ ॥

बाल बनाना, दन्तधावन (दांतों का धोना) तथा देवतों का पूजन पूर्वाह्ण (दिन के पहिले भाग) में ही करने चाहिए ॥२८॥

मूर्ख के साथ न जाय व अकेला वृषलों के साथ न जाय, दूसरों के धारण किए हुए जूते तथा वस्त्र न धारण करे क्योंकि बहुत सी बीमारियां ऐसी हैं जो स्पर्शास्पर्श से फैलती हैं ॥ २९ ॥

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च ।
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च ॥ ३० ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परम-भ्याददीत । ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदे-दुशतीं पापलोक्याम् ॥ ३१ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोच-ति रात्र्यहानि । परस्य वा मर्मसु निष्पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत्परेषु ॥ ३२ ॥

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।

ब्राह्मण, गौ, राजा, वृद्ध, भार से पीड़ित मनुष्य, गर्भिणी व दुर्बल इनके लिये मार्ग देना उचित है ॥ ३० ॥

दूसरे को पीड़ित करनेवाला न हो, कटु वाक्य न कहे तथा हीन से उत्कृष्ट वस्तु को न लेवे तथा जिस वाणी से दूसरे का मन उद्विग्न हो उस पापयुक्त वाणी को न कहे ॥ ३१ ॥

वाणीरूपी बाण मुख से छूटते रहते हैं जिनसे वेधा हुआ मनुष्य दिन रात सोचता ही रहता है । इसलिये जो वाणीरूपी बाण दूसरों के मन को भेदन करते हैं उन बाणों को पंडित दूसरों के ऊपर मत फेंके ॥ ३२ ॥

बाणों से बेधा हुआ घाव पूरित हो जाता है तैसे ही कुल्हाड़ी से कटा हुआ वन भी फिर वृक्षों से पूरित हो जाता है, किन्तु

वाचा दुरुक्तया विद्धं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥३३॥
कर्णिनालीकनाराचान्निर्हरन्ति शरीरतः।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः॥३४॥
हीनाङ्गानातिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् विगर्हितान्।
रूपद्रविणहीनांश्च सत्त्वहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥३५॥
नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषदम्भाभिमानं च तैक्ष्ण्यं परिवर्जयेत् ॥ ३६ ॥
परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैनं निपातयेत्।

दुष्ट वाणीसे बिधा हुआ मन का घाव कदापि पूर्ण नहीं होता ॥ इसलिए कभी भी कठोर शब्द दूसरे को न कहे चाहे वह भृत्य शिष्य ही क्यों न हो ॥ ३३ ॥

चाकू, बाणादि शस्त्र शरीर से निकाले जा सकते हैं परन्तु कटु-वाक्यरूपी बाण किसी प्रकार भी निकाले नहीं जा सकते, क्योंकि वे हृदय में चुभजाते हैं ॥ ३४ ॥

हीन व अधिक अङ्गवाले तथा दीन, विद्याहीन, निन्दित, रूप, धन, बल इनसे हीन मनुष्यों को तिरस्कार न करे ॥ ३५ ॥

नास्तिकता, वेदनिन्दा, देवतों की निन्दा, द्वेष, दम्भ तथा अहंकार, तीक्ष्णता इन को छोड़ देना चाहिए ॥ ३६ ॥

दूसरे के लिए दंड न उठावे तथा कुपित होकर उसको न मारे,

अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम्॥३७॥

कृत्वा मूत्रपुरीषे तु रथ्यामाक्राम्य वा पुनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्स्वाध्याये भोजने तथा ॥३८॥

नित्यमग्निं परिचरेद्भिक्षां दद्याच्च नित्यदा ।
वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत् ॥३९॥

न चाभ्युदितशायी स्यात् प्रायश्चित्ती तथा भवेत् ।
मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत् ॥

केवल पुत्र व शिष्य को विद्या पढ़ाने व सन्मार्ग पर लगाने के निमित्त जब साम उपाय से काम न चले तब ताड़न कर सकता है अन्यथा ताड़न करना नहीं चाहिए ॥ ३७ ॥

मार्ग छोड़कर मूत्र, पुरीषोत्सर्जन करना चाहिए तथा वेदपाठ व भोजन करने के पूर्व पैर धोने चाहिए ॥ ३८ ॥

नित्य अग्नि की सेवा करे तथा याचकों को नित्य भिक्षा देवे और मौन होकर नित्य ही दन्तकाष्ठ करे अर्थात् दातून से दांतों को साफ करे ॥ ३९ ॥

सूर्योदय के पश्चात् शयन न करे, क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य प्रायश्चित्तभागी होता है, और उठकर प्रथम माता, पिता

आचार्यमथवाऽप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत् ॥ ४० ॥
वर्जयेद्दन्तकाष्ठानि वर्जनीयानि नित्यशः ।
भक्षयेच्छास्त्रदृष्टानि पर्वस्वपि विवर्जयेत् ॥ ४१ ॥
उदक्शिरा न स्वपेत तथा प्रत्यक्शिरा न च ।
प्राक्शिरास्तु शयेद्विद्वानथवा दक्षिणा शिरः ॥ ४२ ॥
न चैवार्द्राणि वासांसि नित्यं सेवेत मानवः ।
उदक्यया च संभाषां न कुर्वीत कदाचन ॥ ४३ ॥
नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके ।

व गुरु तथा अन्य पूज्य लोगों को प्रणाम करे, ऐसा करने से मनुष्य बड़ी आयु को पाता है ॥ ४० ॥

नित्य ही वर्जित दन्तकाष्ठों को वर्जित करे और शास्त्रोक्त दन्तकाष्ठों से दातून करे किन्तु इनको पर्वकाल (अमावास्यादि) में वर्जित करे ॥ ४१ ॥

उत्तर तथा पश्चिम दिशा को शिर करके न सोवे, विद्वान् मनुष्य पूर्व तथा दक्षिण दिशा को शिर करके शयन करे ॥ ४२ ॥

मनुष्य भीगे वस्त्रों का सेवन न करे और उदकी (रजस्वला) स्त्री से कभी संभाषण न करे इससे प्रभाव (तेज) का नाश होता है ॥ ४३ ॥

खेत तथा गांव के निकट पुरीषोत्सर्जन न करे और जल में

उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात्कदाचन ॥ ४४ ॥
नाधितिष्ठेत्तुषं जातु केशे भस्म कपालिका ।
अन्यस्य चाप्यवस्नातं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ४५ ॥
निषण्णश्चापि खादेच्च न तु गच्छन् कदाचन ।
मूत्रं नोत्तिष्ठता कार्यं न भस्मनि न गोव्रजे॥४६॥
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो वर्षाणां जीवते शतम् ॥४७॥
ऊर्द्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनस्थविर आयति ।

भी मूत्र व पुरीषोत्सर्जन कभी न करना चाहिए ॥ ४४ ॥

बाल, भस्म, कपाल आदि को न छुए, दूसरे के स्नान किये हुए जल से स्नान न करे ॥ ४५ ॥

बैठकर खाना चाहिए, चलते हुए कदापि न खाना चाहिए और खड़ा होकर तथा भस्म व गोठ में मूत्रोत्सर्जन न करना चाहिए ॥ ४६ ॥

भीगे पैर खाना चाहिए और बिन भीगे पैर भोजन को नहीं बैठना चाहिए, भीगे पैर भोजन करनेवाला सौ वर्ष जीता रहता है ॥ ४७ ॥

अपने से श्रेष्ठ शक्तिवाले पुरुष के सामने आने से प्राणवायु की ऊपर की ओर स्वभावतः गति होती है ऊपर की ओर जाताहै

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपादयेत् ४८॥
अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वयम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽनियात् ॥४९॥
न चाशीतासनेऽभिन्ने भिन्नं कांस्यं च वर्जयेत् ।
नैकवस्त्रेण भोक्तव्यं न नग्नः स्नातुमर्हति ॥५० ॥
स्वप्तव्यं नैव नग्नेन न चोच्छिष्टोपि संविशेत् ।
उच्छिष्टो न स्पृशेच्छीर्षं सर्वप्राणास्तदाश्रयाः॥५१॥

उस प्राणवायु को फिर यथास्थान लाने का यही एक उपाय है कि उस श्रेष्ठ पुरुष को प्रणाम करे और उठकर उसका स्वागत करे ॥ ४८ ॥

वृद्धों को प्रणाम करना चाहिए और उनको स्वयं आसन देना तथा हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करनी चाहिए और यदि वह जावें तो उनके पीछे चलना चाहिए, अपने से गुण कर्म जाति अवस्था में श्रेष्ठ का सत्कार करे ॥ ४९ ॥

पृथक् पृथक् आसन पर बैठकर पृथक् पृथक् पात्रों में भोजन करे, एक वस्त्र से भोजन न करे और नग्न स्नान भी न करे ॥५०॥

नंगा होकर शयन न करे (कुछ वस्त्र बदन पर रखे) जूठे मुँह भी भोजन न करे, जूठे हाथ कभी शिर पर न लगावे क्योंकि शिर सम्पूर्ण प्राणों का आश्रय है ॥ ५१ ॥

केशग्रहं प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत् ।
न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेतात्मनः शिरः॥५२॥
न चाभीक्ष्णं शिरः स्नायात्तथास्यायुर्न रिष्यते ।
नाध्यापयेत्तथोच्छिष्टो नाधीयीत कदाचन ॥५३॥
वाते च पूतिगन्धे च मनसापि न चिन्तयेत् ।
अत्र गाथा यमोद्गीता कीर्त्तयन्ति पुराविदः ॥५४॥
आयुरस्यनिकृन्तामि प्रजास्तस्याददे तथा ।
य उच्छिष्टः प्रद्रवति स्वाध्यायं चाधिगच्छति ॥५५॥
यश्चानध्यायकालेऽपि मोहादभ्यसति द्विजः ।
तस्य वेदः प्रणश्येत आयुश्च परिहीयते ॥
तस्माद्युक्तो ह्यनध्याये नाधीयीत कदाचन ॥५६॥

केशों को पकड़ना या केशों को सुखाने के निमित्त हाथ से झाड़ना न चाहिए और दोनों हाथों से शिर को कभी न खुजलावे ॥ ५२ ॥

दिनभर में कई बार शिर से स्नान न करे, विना मुँह धोए न स्वयं पढ़े, न दूसरे को पढ़ावे ॥ ५३ ॥

अनध्याय समय में तथा विना शुद्ध हुए जो वेद पढ़ता या पढ़ाता है उसके पढ़े हुए सब वेद नष्ट हो जाते हैं, इस कारण अनध्याय में वेद कभी नहीं पढ़ना चाहिए ॥ ५४–५६ ॥

प्रत्यादित्यं प्रत्यनलं प्रतिगां च प्रतिद्विजान् ।
ये मेहन्ति च पन्थानं ते भवन्ति गतायुषः ॥ ५७॥
संमान्यो हि प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर ।
सम्यङ्मिथ्याप्रवृत्त्याऽपि वर्तितव्यं गुराविह ॥
गुरुनिन्दा दहत्यायुर्मनुष्याणां न संशयः ॥५८॥
दूरादावसथान् मूत्रं दूरात्पादावसेवनम् ।
उच्छिष्टोत्सर्जनं चैव दूरे कार्यं हितैषिणा ॥ ५६ ॥
विपर्ययं न कुर्वीत वाससो बुद्धिमान्नरः ।
तथानान्यधृतं धार्यं न चापदशमेव च ॥ ६० ॥

सूर्य के संमुख, अग्नि के संमुख, गाय के संमुख, द्विजाति के संमुख अथवा जो मार्ग में पेशाब (मूत्र) करते हैं उनकी आयु कम हो जाती है ॥ ५७ ॥

गुरु के क्रुद्ध होने पर भी उनका सम्मान करना और नित्य प्रसन्न रखना चाहिये, गुरु से कभी असत्य न बोलै । गुरु की निन्दा करने से मनुष्य अल्पायु होता है ॥ ५८ ॥

पैर धोना, मूत्रोत्सर्ग करना, जूंठा फेंकना यह कर्म मकान से पृथक् करने चाहिए ॥ ५६ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को दूसरे के धारण किए हुए वस्त्र नहीं पहरने चाहिए, उलटे वस्त्र नहीं धारण करना चाहिए ॥ ६० ॥

अन्यदेव भवेद्वासः शयनीये नरोत्तम ।
अन्यद्रथ्यासु देवानामर्चायामन्यदेव हि ॥ ६१ ॥
प्रियंगुचन्दनाभ्यां च बिल्वेन तगरेण च ।
पृथगेवानुलिम्पेत केशरेण सुबुद्धिमान् ॥ ६२ ॥
उपवासं च कुर्वीत स्नातः शुचिरलंकृतः ।
पर्वकालेषु सर्वेषु ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥ ६३ ॥
भूमौ सदैव नाश्नीयान्नानासीनो न शब्दवत् ।
तोयपूर्वं प्रदायान्नमतिथिभ्यो विशेषतः ॥ ६४ ॥

शयन के समय अलाहिदा वस्त्र पहिरना चाहिए, भोजन के वक्त दूसरा, पूजा के समय दूसरा ही हो, कचेहरी की पोशाक अलाहिदे हों सर्वदा शयन पूजनादि में एकही वस्त्र सर्वत्र न रक्खे पृथक् पृथक् वस्त्र हों ॥ ६१ ॥

अच्छी सुगन्ध लगाने से मन प्रसन्न रहता है ॥ ६२ ॥

पर्वकाल में हमेशः स्नान कर स्वच्छ-पवित्र वस्त्र, आभूषण धारण कर उपवास करे और ब्रह्मचर्य से पवित्राचरणपूर्वक रहे॥ ६३॥

ज़मीन में बैठकर कभी भोजन न करे, कुछ आसन बिछाकर बैठे, बोलते हुए भोजन न करे और अतिथि को भोजन प्रसन्नता से देवे अर्थात् अतिथि को देकर कृष्णार्पण कर आशन में बैठ शान्त होकर भोजन करे ॥ ६४ ॥

तस्मात्भुञ्जीत मेधावी न चाप्यन्यमना नरः ।
समानमेकपंक्त्यां तु भोज्यमन्नं नरेश्वर ॥ ६५ ॥
विषं हालाहलं भुंक्ते योऽप्रदाय सुहृज्जने ।
पानीयं पायसं सक्तून् दधिसर्पिमधून्यपि ॥ ६६ ॥
निरस्य शेषमेतेषां न प्रदेयन्तु कस्यचित् ।
भुञ्जानो मनुजव्याघ्र नैव शङ्कां समाचरेत् ॥ ६७ ॥
परापवादं न ब्रूयान्नाप्रियं च कदाचन ।
न मन्युः कश्चिदुत्पाद्यः पुरुषेण भवार्थिना ॥६८॥

एकाग्र मन करके भोजन करे, एक पंक्ति में बैठकर खाने से अन्न भोज्य रहता है ॥ ६५ ॥

जल, खीर, सक्तु, दही, दुग्ध, घी, मिठाई जो अकेले अकेले खाता है उसके लिए वह विष के बराबर है इस लिए हमेशा अच्छे पदार्थ बांट कर खाने चाहिए ॥ ६६ ॥

बाकी खाने से बचा हुआ दूसरों को नहीं देना और भोजन करते हुए चित्त में कोई शंका नहीं करनी चाहिए ॥ ६७ ॥

दूसरे का अपवादसूचक वाक्य नहीं कहना, अप्रिय वाणी कदापि नहीं कहनी, ऐश्वर्य के चाहनेवाले पुरुष को दूसरे पर क्रोध नहीं करना चाहिए ॥ ६८ ॥

पतितैस्तु कथं नेच्छेत् दर्शनं च विवर्जयेत् ।
संसर्गं न च गच्छेत तथायुर्विन्दते महत् ॥ ६९ ॥
न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च वन्धकीम् ।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत्तथायुर्विन्दते महत्॥७०॥
महात्मनोऽतिगुह्यानि न वक्तव्यानि कर्हिचित् ।
अगम्याश्च न गच्छेत् राज्ञः पत्नीं सखीं तथा॥७१॥
विधवां बालवृद्धानां भृत्यानां च युधिष्ठिर ।

जो पतित मनुष्यों की बात भी नहीं करता, उनका दर्शन और संसर्ग नहीं रखता वह पूर्ण आयु भोगता है ॥ ६९ ॥

जो दिन में मैथुन नहीं करता है, कन्या और बन्धकी और विना स्नान की हुई स्त्री से मैथुन नहीं करता है वह दीर्घायु को प्राप्त होता है ॥ ७० ॥

अच्छे मनुष्यों के रहस्य प्रकट नहीं करने चाहिए, राजधर्म, व्यवहारधर्म का यह परम मन्त्र है कि जबतक वह कार्य सिद्धा-वस्था में न होजाय तबतक उस रहस्य को प्रकट न करे, रहस्य-रक्षा नीति का प्रधान अंग है अगम्य स्त्रियों को गमन करने से, राज-पत्नी गमन करने से गतायु होता है इस लिए इन को गमन न करे ॥ ७१ ॥

विधवा स्त्री, बाल स्त्री, वृद्धा स्त्री, नोकर की स्त्री, जाति-

बंधूनां ब्राह्मणानां च तथा शरणिकस्य च ॥
संबन्धिनां च राजेन्द्र तथायुर्विन्दते महत् ॥ ७२ ॥
ब्राह्मणस्थपतिभ्यां च निर्मितं यन्निवेशनम् ।
तदा वसेत्सदा प्राज्ञो भवार्थी मनुजेश्वर ॥ ७३ ॥
सन्ध्यायां न स्वपेद्राजन् विद्यां न च समाचरेत् ।

बिरादरी की स्त्री, ब्राह्मण की स्त्री, शरणागत स्त्री जो इन के साथ गमन (मैथुन) नहीं करता है वह दीर्घजीवन प्राप्त करता है ॥ ७२ ॥

ब्राह्मणों के निर्णयपर स्थपति (बढ़ैयों) ने जो मकान बनाया हो उस में रहने से मनुष्य को कल्याण होता है इसका तात्पर्य यह है कि मकान मनुष्य को न केवल धूप वर्षा से बचने का आश्रय है बल्कि जैसा उसके दैविक याज्ञिक आत्मिक साधन निमित्त है जैसे शरीर का सम्बन्ध जीवसे जीव का आत्मा से और पृथक् पृथक् प्रकार के जीवों को पृथक् पृथक् शरीर है । हाथी के जीव को हाथी का शरीर, चींटी को चींटी का, इसी तरह मकान का सम्बन्ध मनुष्य से है । मनुष्य मनुष्य के लिए पृथक् पृथक् मकान की आवश्यकता उसके धर्म अर्थ साधन के लिये है इसलिये ज्योतिषी ब्राह्मण और स्थपति इन दोनों की सम्मति से मकान बनावे न केवल राज के बनाए नकशे से ही ॥ ७३ ॥

सन्ध्याकाल में शयन न करे और विद्या पढ़ना बन्द रक्खे,

न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत् ॥ ७४ ॥
महाकुले प्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा ।
वयस्थां च महाप्राज्ञ कन्यामावोढुमर्हति ॥ ७५ ॥
अपत्यमुत्पाद्य ततः प्रतिष्ठाप्य कुलं ततः ।
पुत्राः प्रदेया ज्ञानेषु कुलधर्मेषु भारत ॥ ७६ ॥
कन्या चोत्पाद्य दातव्या कुलपुत्राय धीमते ।
पुत्रा निवेश्याश्च कुलावृत्त्या लभ्याश्च भारत ७७॥
शिरः स्नातोऽथ कुर्वीत दैवं पित्र्यमथापि वा ।

भोजन भी सन्ध्या में न करे, इस तरह करने से मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ ७४ ॥

अच्छे खानदान में उत्पन्न, शुभ लक्षणसम्पन्न, ठीक अवस्था-वाली (न बहुत बड़ी न बहुत छोटी) कन्या से विद्वान् को विधि-पूर्वक विवाह करना चाहिए ॥ ७५ ॥

ऐसी स्त्री में अपनी कुल की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र उत्पन्न करे और उनको ज्ञानियों के समीप अर्पण कर देवे ॥ ७६ ॥

कन्या उत्पन्न कर कुलवान्, बुद्धिमान् को देना चाहिए, पुत्रों को उत्तम कुल में रखकर सद्वृत्ति में लगाना चाहिए ॥ ७७ ॥

देवार्चन, पितृपूजन शिर से स्नान कर करे और अपनी या

परिवादं न च ब्रूयात् परेषामात्मनस्तथा ॥
परिवादो ह्यधर्माय प्रोच्यते भरतर्षभ ॥ ७८ ॥

पात्रलक्षणसंयुक्ता प्रशस्ता पात्रलक्षणैः ।
मनोज्ञा दर्शनीया च तां भवान् वोढुमर्हसि ॥७९॥

महाकुले निवेष्टव्यं सदृशे वा युधिष्ठिर ।
अवरापतिताश्चैव न ग्राह्या भूतिमिच्छता॥ ८० ॥

धनुर्वेदे च वेदे च यत्नः कार्यो नराधिप ।
अग्नीनुत्पाद्य यत्नेन क्रियाः शुचिहिताश्च याः८१

दूसरों की निन्दा कभी न करे क्योंकि निन्दा करने से महापाप होता है ॥ ७८ ॥

कन्या जो शुभ लक्षणों से युक्त हो, और प्रशंसा के योग्य जिसके लक्षण हों, मनोज्ञ, देखने योग्य हो ऐसी कन्या से विवाह करना उत्तम है ॥ ७९ ॥

हो सके तो अच्छे कुल में जो अपने से भी श्रेष्ठ हो अथवा अपनी समानता में विवाह करे, नीच कक्षा में कभी विवाह न करे ॥ ८० ॥

वेद में और धनुर्वेद में राजा को परिश्रम करना चाहिए यत्न-पूर्वक अग्निस्थापन कर वैदिक क्रिया करता जावे ॥ ८१ ॥

वेदे च ब्राह्मणैः प्रोक्तास्ताश्च सर्वाः समाचरेत्॥८२॥
न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्तव्या रक्ष्या दाराश्च सर्वशः ।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत् ८३॥
अनायुष्यं दिवा स्वप्नं तथाभ्युदितशायिता ।
प्रगेनिशामाशु तथा ये चोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै॥८४॥
परदार्य्यमनायुष्यं नापितोच्छिष्टता तथा ।
यततो नैव कर्तव्यमभ्यासं चैव भारत॥ ८५ ॥
सन्ध्यायां न च भुञ्जीत न स्नायेन्न पठेत्तथा ।

ब्राह्मणों को वेद पढ़ाना तथा और वर्णों को उनसे पढ़कर आचरण करना चाहिए ॥ ८२ ॥

स्त्रियों पर ईर्ष्या नहीं करनी, स्त्रियां सब तरह रक्षा के योग्य हैं। ईर्ष्या रखने से आयु क्षीण होती है इसलिए ईर्ष्या का परित्याग करे ॥ ८३ ॥

दिन में सोना, सूर्योदय में शयन करना, जूठे मुँह से सोना ये आयु के क्षीण करनेवाले हैं ॥ ८४ ॥

परस्त्रीगमन और नापित का जूठा इनका परित्याग सावधान होकर करना चाहिए क्योंकि इनसे आयु कम होती है ॥ ८५ ॥

सन्ध्याकाल में भोजन तथा स्नान न करे और न पढ़े,

देवांश्च प्रणमेत्स्नातो गुरूंश्चाप्यभिवादयेत्॥८६॥
अनिमन्त्रितो न गच्छेत् यज्ञं गच्छेच्च दर्शकः ।
अनर्चिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत ॥ ८७ ॥
न चैकेन परिव्रज्यं न गन्तव्यं तथा निशि ।
अनागतायां सन्ध्यायामागत्य च गृहे वसेत्॥८८॥
मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम् ।
हितं वाप्यहितं वापि न विचार्यं कथञ्चन ॥ ८९ ॥
हस्तिपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु चैव हि ।
यत्नवान् भव राजेन्द्र यत्नवान् सुखमेधते ॥ ९० ॥

स्नान करके देवताओं और गुरुजनों को प्रणाम करे ॥ ८६ ॥

विना निमन्त्रण के किसी के कार्य में न जावे जो शुभ काम में जाकर सत्कार न किया जाय तो गतायु होता है ॥ ८७ ॥

अकेला परदेश में भ्रमण न करे, रात्रि को न चले, सन्ध्याकाल के पहिले ही यात्री को निवास करना चाहिए ॥ ८८ ॥

माता, पिता, गुरु की आज्ञा पर चलना चाहिए, उनकी आज्ञाविरुद्ध अपनी बुद्धि को बड़ी न समझे ॥ ८९ ॥

हाथी की सवारी में, घोड़े में, गाड़ी में चलते हुए गफलत से न रहे, प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए, सावधानता से सुख प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

अप्रधृष्यश्च शत्रूणां भृत्यानां स्वजनस्य च ।
प्रजापालनयुक्तश्च न क्षतिं लभते क्वचित् ॥ ६१ ॥
युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शब्दशास्त्रं च भारत ।
गान्धर्वशास्त्रं च कला परिज्ञेया नराधिप ॥६२॥
पत्नी रजस्वला या च नाभिगच्छेन्न चाह्वयेत् ।

शत्रुओं से न दबनेवाला तथा भृत्य, स्वजन और प्रजा का पालन करनेवाला कभी हानि को नहीं प्राप्त होता है राज्यपालन करने के लिए राजा को इतनी सामग्रियां इकट्ठी करनी चाहिए, न्यायशास्त्र, नीतिशास्त्र, व्यवहारतत्त्व, लोकमत, शब्दशास्त्र, शब्द-साहित्य, वेदान्तशास्त्र, गन्धर्वशास्त्र तथा ६४ कला, शस्त्रविद्या, खनिजविद्या, भूविद्या, पाकविद्या, रचनाविद्या इत्यादि जानने चाहिए जो राजा इन सब बातों को स्वयं नहीं जानता केवल मन्त्रियों के कहने मात्र पर राज चलाता है उसकी राज्यलक्ष्मी राजा को छोड़कर मन्त्रियों के पास चली जाती है राजा प्रजा-पीड़न के पाप का भोग बनकर मुद्राराक्षस के इतिहास की तरह राज्य भ्रष्ट तक होजाता है इसलिये राजा को सम्पूर्ण शास्त्रज्ञता और सब काम अपने हाथ में रखने की योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए ॥ ६१—६२ ॥

रजस्वला स्त्रीके साथ न तो शयन करना और न उसको

स्नातां चतुर्थे दिवसे रात्रौ गच्छेद्विचक्षणः ॥६३॥
पञ्चमे दिवसे नारी षष्ठे इति पुमान् भवेत्।
एतेन विधिना पत्नीमुपागच्छेत पण्डितः ॥ ६४ ॥
ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि पूजनीयानि सर्वशः।
यष्टव्यं च यथाशक्ति यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥ ६५ ॥
अत ऊर्द्ध्वमरण्यं च सेवितव्यं नराधिप।
एष ते लक्षणोद्देश आयुष्याणां प्रकीर्तितः ॥६६॥

पुकारना, जब चतुर्थदिवस में वह स्नान करले तब पति के साथ शयन करे ॥ ६३ ॥

पांचवें दिन स्त्री के साथ मैथुन करने से कन्या उत्पन्न होती है, छठे दिन पुत्र; इसका विचार करना चाहिए॥ ६४ ॥

भाई, बिरादर, इष्टमित्र सब पूजा के योग्य हैं। अपनी शक्ति के अनुसार यज्ञ, हवन अवश्य करने चाहिए॥६५॥

जब पुत्र, पौत्र होजायँ तब गृहस्थी के काम समाप्त कर वानप्रस्थ आश्रम को सेवन करना चाहिए जिनको इन्द्रियों की आशक्ति नहीं, जिनका विषयी, कामी, पापी जीवन नहीं है वह सन्तान के सन्तान होते वनमें चले जाते हैं तब गृहस्थी में मरना नरक है ॥ ६६ ॥

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः ।
आचाराद्वर्द्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम् ॥९७॥
आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते ॥ ९८ ॥
एतदाशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
अनुकंप्य सर्ववर्णान् ब्रह्मणा समुदाहृतम् ॥ ९९ ॥

आचार ही ऐश्वर्य को देनेवाला है, आचार ही कीर्ति बढ़ानेवाला है, आचार से आयु बढ़ती है और आचार ही से दुष्ट लक्षण दूर होते हैं ॥ ९७ ॥

जित ने आगम (शास्त्र) हैं उन सब में आचार श्रेष्ठ है, आचार से धर्म उत्पन्न होता है और धर्म से आयु बढ़ती है ॥९८॥

यह आयु का, स्वर्ग का, कल्याण का देनेवाला सब वर्णों को मानने योग्य कहा है ॥ ९९ ॥

शिष्टाचारः।

स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत।
शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम ॥ १ ॥
एतदिच्छामि भद्रन्ते श्रोतुं धर्मभृतां वर।
त्वत्तो महामते व्याध तद्ब्रवीहि यथातथम् ॥ २ ॥
यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम।
पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ३ ॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम्।
धर्ममित्येव सन्तुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसंमताः ॥ ४ ॥

वह महाप्राज्ञ ब्राह्मण शिष्टाचार को धर्मव्याध से पूछने लगा ॥ १ ॥
हे धर्म के जाननेवालो में श्रेष्ठ ! तुम से वह विषय सुनना चाहता हूं, तुम ठीक ठीक कहो ॥ २ ॥

शिष्टाचार में यज्ञ, दान, तप, वेद पढ़ना, सत्य बोलना यह पांच मुख्य कर्तव्य हैं ॥ ३ ॥

काम, क्रोध, दम्भ, लोभ, घमण्ड इनको अपने वश करने से शिष्टसम्मत धर्म होता है ॥ ४ ॥

ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः ।
धर्मपन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ५ ॥
नियच्छन्ति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता जनाः ।
उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः ॥ ६॥
नास्तिकान्भिन्नमर्यादान्क्रूरान्पापमतौ स्थितान् ।
त्यजतान्ध्यानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ॥७॥
कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।

जो श्रेष्ठ पुरुष वेद में तत्पर, त्याग में रत, सत्य में लगकर धर्म के मार्ग पर चलते हैं ॥ ५ ॥

बुद्धिमान् शिष्टाचारसम्पन्न गुरु के अनुशासन पर युक्त होकर चलते हैं वेद में लिखा है कि :—"न हि वा अपुरोहितस्य राज्ञः देवा अन्नमश्नन्ति" जिस राजा का (श्रोत्रिय वैदिक कर्मकाण्ड का ज्ञाता) ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानी नीतिशास्त्रज्ञ गुरु न हो उसका अन्न देवता को नहीं पहुँचता । इसलिए मूर्ख गुरु, अगुरु कभी न रहे ॥ ६ ॥

नास्तिक, मर्यादाभ्रष्ट, क्रूर, पापी इनको छोड़ कर धार्मिक पुरुषों की संगति करनी चाहिए ॥ ७ ॥

पंचइन्द्रियरूपी नदी जो काम, लोभरूपी ग्राह (नाकु) से

नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्म दुर्गाणि सन्तर ॥८॥
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम्।
अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः ॥ ९ ॥
क्षमासत्यार्जवं शौचं सतामाचारदर्शनम्।
सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा ॥ १० ॥
विपाकमभिजानन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसंमताः।
न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः ॥११॥
अतिशक्त्या प्रयच्छन्ति सन्तः सद्भिः समागताः।

घिरी हुई है उसको धैर्यरूपी नाव में चढ़कर जन्मरूपी किले से तू पार हो ॥ ८ ॥

शिष्टलोग अनाचार को अधर्म कहते हैं क्रोध का त्याग, डाह का छोड़ना, अहंकार न करना यह सब धर्म हैं ॥ ९ ॥

क्षमा, सत्य, सरल-स्वभाव, पवित्रता, सब प्राणियों पर दया, किसी को न सताना यह सज्जनों का आचार है ॥ १० ॥

जिस काम के करने को उद्यत हैं उसके भले-बुरे नतीजे को जाननेवाले, सर्वगुणसंपन्न, न्याय में तत्पर और लोकहित करनेवाले उत्तम धार्मिक कहेजाते हैं ॥ ११ ॥

अपनी शक्ति के अनुसार उपकार करना, लोकयात्रा को

लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च॥१२॥
प्रज्ञाप्रासादमारुह्यमुच्यन्ते महतो भयात् ।
प्रेक्ष्यन्ते लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ॥१३॥
कर्म च श्रुतसम्पन्नं सताम्मार्गमनुत्तमम् ।
शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्यं धर्ममनुव्रता ॥ १४ ॥

देखते हुए सज्जन आत्मा के हित को करते हैं ॥ १२ ॥

ज्ञान की भूमि पर बैठकर बड़ी भय से छूट जाता है और संसार की सब वार्ता वहां से देखता रहता है ॥ १३ ॥

वेदसम्पन्न कर्म को करे यही सब मार्ग है, धर्म व्रतपूर्वक शिष्टाचार को सेवन करे ॥ १४ ॥

आर्षशिक्षासूत्राणि

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

सत्यं वद ॥ १ ॥ धर्मञ्चर ॥ २ ॥

स्वाध्यायान्मा प्रमद ॥ ३ ॥

आचार्याय प्रियन्धनमाहृत्य प्रजातन्तुमाव्यवच्छेत्सीत् ॥ ४ ॥

इस जगत् में प्रधानतया दो मार्ग हैं आपत्ति और सम्पत्ति। इन्द्रियों के वेग को संयम न करना ही आपत्तियों का मार्ग है, इन्द्रियों का विजय करना ही सम्पत्तियों का मार्ग है अतः जो मार्ग मनोभीष्ट हो उस मार्ग से वर्त्ताव करना चाहिए।

सत्यम् (सच) जिस पदार्थ को जैसा देखा, सुना और समझा मनन किया जिसमें नित्यता दीखे उसे वैसा ही कहना, सत्य कहा है ॥ १ ॥

जातिधर्म, देशधर्म, आत्मधर्म पर आचरण करो ॥ २ ॥

वेद पढ़ने में आलस्य न करो, "वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः" ॥ ३ ॥

वेद के पढ़ानेवाले को प्रिय वस्तु समर्पण कर प्रजा में सृष्टिक्रम को उल्लंघन न करे ॥ ४ ॥

सत्यान्न प्रमदितव्यम्॥५॥धर्म्मान्न प्रमदितव्यम् ६ कुशलान्न प्रमदितव्यम् ७ भूत्यै न प्रमादितव्यम्८ देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ ६ ॥ स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १० ॥

सत्य से प्रमाद न करे । अर्थात् यह न समझे कि असत्य कहने में कोई धर्म है ॥ ५ ॥

धर्म्म से प्रमाद न करे । जितने अपने व्यावहारिक सम्बन्ध हैं वे धर्मपूर्वक होने चाहिए ॥ ६ ॥

चतुरता से प्रमाद न करे । बुद्धिमानी के घमण्ड में ऐसी चाल न चले जिससे यह लोक, परलोक नष्ट होजावें ॥ ७ ॥

ऐश्वर्य से प्रमाद न करे । ऐश्वर्य के मद में आकर कठोर भाषण दीनों की पीड़ा का ज्ञान न होना ऐसी दशा गिराने की है ॥ ८ ॥

देवता व पितरों के काम से आलस्य न करे । यह जीवन केवल विषय भोग के लिये है ऐसा जान अपनी कुल शक्ति विषयों में देकर देवकार्य पितृकार्य को न भूल जावे ॥ ६ ॥

वेद पढ़ने पढ़ाने में आलस्य न करे । जो द्विज वेदों को न पढ़ दूसरी मातृविद्या में अपनी आयु देता है वह शूद्र होजाता है राजा उसे कभी विश्वास में न लावे वेदों से ईश्वर का ज्ञान विवेक सम्पत्ति होती है, जो माता, पिता, आचार्य का उपकार

मातृदेवो भव ॥ ११ ॥ पितृदेवो भव ॥ १२ ॥
आचार्यदेवो भव ॥ १३ ॥
अतिथिदेवो भव ॥ १४ ॥

यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपासितव्यानि नो इतराणि ॥ १५ ॥

ये के चास्मच्छ्रेयांसो जनास्तेषां त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यम् ॥ १६ ॥

भूल जाते हैं वे कृतघ्न होते हैं संसार में वे किसी के विश्वासपात्र नहीं होसकते हैं। मनुष्य की पहली पहचान माता, पिता, आचार्य (शुद्धविद्या पढ़ानेवाला) इनके सत्कार करने से है ॥ १० ॥

माता को देवतुल्य समझो॥ ११॥ पिताको देवतुल्य समझो॥ १२॥

पढ़ानेवाले को देवतुल्य समझो ॥ १३ ॥

अपने घर में दो तरह के अतिथि आते हैं एक तो आज कल के विजिनिसगेष्ट दूसरे हकीकी अतिथि विना किसी व्यापार के जो विद्वान् गृहस्थ के घर आते हैं उन अभ्यागतों को देवतुल्य समझो ॥ १४ ॥

हमारे जो सत्कर्म हैं उन का आचरण करना और यदि कोई अभ्यास हमारा शास्त्रविरुद्ध हो उसे त्याग देना ॥ १५ ॥

हितचिन्तक पुरुषों की और श्रेष्ठ पुरुषों को उठकर बैठाना, आसन देना यह शिष्टाचार है । अभ्युत्थान करना चाहिए॥ १६॥

श्रद्धया देयम् ॥ १७ ॥ ह्रिया देयम् ॥ १८ ॥ भिया देयम् ॥ १९ ॥ संविदा देयम् ॥ २० ॥

यदि ते कर्मविचिकित्सा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात् ये तव ब्राह्मणाः समर्षिणः युक्ताऽयुक्ता अलुक्षाः धर्मकामाः यथा वर्तेरन् तथा वर्त्तेथाः ॥ २१ ॥

तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम् ॥ २२ ॥

श्रद्धा से देना । सात्त्विकी दान यही है अनन्त फल इसी का है ॥ १७ ॥

लज्जा से भी देना चाहिए । राजसीदान जैसे कोई रिश्तेदार मांगे ॥ १८ ॥

डर से भी देना उचित है । तामसी राजा की भय से ॥ १९ ॥

ज्ञान से भी दातव्य है । जान बूझ कर किसी जाति देशकी भलाई को ॥ २० ॥

जो कभी कहीं सन्देह उत्पन्न हो तो जिस प्रकार विचारशील, शास्त्रज्ञ, धर्मात्मा व्यवहार बतावें वैसा बर्तना चाहिए। याने किसी काममें जब अड़चन पड़जाय धर्मसंकट दीखे वहां पर बुद्धिमान् सत्यवादी ब्रह्मचारी विद्वानों से सम्मति कर कार्य करे ॥ २१ ॥

इस लिए अपनी भलाई चाहनेवाले मनुष्यगण को हमेशा नित्य स्मृतिधारा के अनुसार सद्वृत्त का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ २२ ॥

अद्धयनुष्ठानं युगपत्संपादयत्यर्थद्वयं आरोग्य-मिन्द्रियविजयश्चेति ॥ २३ ॥

देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत् ॥२४॥

अग्निमनुचरेत् ॥ २५ ॥

ओषधीः प्रशस्ता धारयेत् ॥ २६ ॥

द्वौ कालावुपस्पृशेत् ॥ २७ ॥

मलायतनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्य-मादध्यात् ॥ २८ ॥

वह सद्व्यवहारानुष्ठान (दोनों बातों को) साथही इन्द्रियों का विजय और आरोग्यता को संपादन करता है ॥ २३ ॥

देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्य इन का पूजन करे ॥ २४ ॥

अग्निहोत्र करे ॥ २५ ॥

हितकारी औषधियों का संग्रह करे ॥ २६ ॥

सुबह साम स्नान (शरीरशुद्धि) करे। दो समय स्नान करना उत्तम है न होसके तो सुबह स्नान साम पञ्चस्नान भी कर सकता है ॥ २७ ॥

गुह्येन्द्रियादि समय समय पर शुद्ध करे और पैरों को भी शुद्ध रक्खे। गुह्येन्द्रिय को गणेशक्रिया से धोने से बवासीर नहीं होती ॥ २८ ॥

त्रिःपक्षास्य केशश्मश्रुलोमनखान्संहार-
येत् ॥ २६ ॥
नित्यमनुपहतवासः ॥ ३० ॥
सुमनसुगंधि स्यात् ॥ ३१ ॥ साधुवेषः॥३२॥
प्रसासितकेशामूर्द्धश्रोत्रपादपूर्वाभिभाषी
सुमुखः ॥ ३३ ॥

दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्प-
थानां नमस्कर्त्ता, वलीनामुपहर्त्ता, अतिथीनां

पक्ष में तीन दफा क्षौर करे । लेकिन मंगलवार चतुर्दशी अमावास्या जन्मदिन छोड़ दे ॥ २६ ॥

हररोज़ सुथरे वस्त्रों को पहिने ॥ ३० ॥

अच्छे पुष्पों की सुगन्धि लेवे ॥ ३१ ॥

सीधे कपड़े पहने । कपड़े का असर मन पर पड़ता है टेढ़ा तिरछा कपड़ा पहनने से वैसेही तरंग उठती है इसलिए सीधे वस्त्र पहिने ॥ ३२ ॥

केश, शिर, कान, पैर इन को तैलादि से शुद्ध रक्खे, नम्रता से प्रसन्नतापूर्वक बातें करे ॥ ३३ ॥

आपत्तियों से उद्धार करनेवाला, होम करनेवाला, यज्ञ संपादन करनेवाला, देनेवाला, चौराह को नमस्कार करनेवाला, बलिका

पूजकः, पितॄणां पिण्डदः, काले हितमितमधुरार्थ-वादी ॥ ३४ ॥

वश्यात्मा धर्मात्मा हेता वीर्यफलनेर्षुः ॥ ३५ ॥

निश्चिन्तो, निर्भीको, धीमान्, ह्रीमान्, महोत्साहो, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः । आस्तिकः विनयबुद्धिर्विद्याभिजन-वयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता ॥ ३६ ॥

छत्री, दण्डी, मौनी, सोपानत्को, युयमात्र दृक्, विचरेत् ॥ ३७ ॥

उपहर्त्ता, अतिथियों का पूजक, पितरों को पिण्ड देनेवाला, समय पर हित की परिमित मीठी वाणी कहनेवाला हो ॥ ३४ ॥

इन्द्रियों को जीतनेवाला, धार्मिक, निमित्त पर पराक्रम दिखाने वाला, फल की इच्छा न करनेवाला हो ॥ ३५ ॥

कुछ चिन्ता न करे, भय न करे, बुद्धिमान्, लज्जावान्, अच्छा उद्योगवान्, चतुर, क्षमाशील, धर्मसेवी, आस्तिक्य-बुद्धियुक्त, सुशील, विद्यावान्, कुल में वृद्ध पुरुषों की, सिद्धों की, आचार्यों की उपासना करनेवाला होवे ॥ ३६ ॥

छत्र धारण कर, दण्ड हाथ में ले, मौनपूर्वक जूता पहनकर चारों ओर देख भाल कर चले ॥ ३७ ॥

मंगलाचारशीलः, कुचेलास्थिकण्टकामेध्यकेशतुषोत्करभस्मकपालस्नानबलिभूमीनांपरिहर्त्ता ३८

प्राक् श्रमाद्व्यायामवर्जी स्यात् ॥ ३९ ॥

सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात् ॥ ४० ॥

क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसन्धः, सामप्रधानः। परपरुषवचनमसहिस्नुः अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता ॥ ४१ ॥

मंगल और आचारशील होवे, निकम्मे वस्त्र, हड्डियां, कांटे, अपवित्र वस्तु, बाल, भूसी, ऊषरभूमि, भस्मकपाल, स्नान, बलि, भूमियों में गमन न करे ॥ ३८ ॥

प्रथम परिश्रम करता हुआ व्यायाम न करे । अर्थात् जब पहले कोई परिश्रम हो चुका हो तब क़सरत न करे ॥ ३९ ॥

सब जीवों में भ्रातृवत् आचारण करे ॥ ४० ॥

क्रोधित पुरुषों का माननेवाला होवे, डरे हुए पुरुषों को धैर्य देनेवाला होवे, दीनों का उद्धार करनेवाला, सत्य प्रतिज्ञावाला, साम, दण्ड, भेदादि नीति में साम गुण हो दूसरे के कठोर वचन नहीं सहनेवाला, गुस्सा पीनेवाला, शांत गुण देखनेवाला, राग-द्वेष के कारणों का दूर करनेवाला होवे ॥ ४१ ॥

नानृतं ब्रूयात् ॥४२॥ नान्यस्वमाददीत॥४३॥
नान्यस्त्रियमभिलषेत् ॥ ४४ ॥

नान्यश्रियं न वैरं रोचयेत्, न कुर्यात्पापं, न पापेऽपि पापी स्यात् ॥ ४५ ॥

नान्यदोषान् ब्रूयात्, नान्यरहस्यमागमयेत्, नाधार्मिकैर्नरेन्द्रद्विष्टैः सहासीत, नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः ॥ ४६ ॥

न दुष्टयानान्यारोहेत् न जानुसमं कठिनमासन-

झूठ न बोले ॥४२॥ दूसरे के धन को ग्रहण न करे॥४३॥
दूसरे की स्त्री को न चाहे ॥ ४४ ॥

पराई सम्पत्ति की अभिलाषा न करे, किसी के साथ वैर न करे, पाप न करे, दुराचारियों में भी आप दुराचारी न होवे अर्थात् दुराचारियों की संगति किसी दशामें भी न करे ॥ ४५ ॥

दूसरों के दोषों को न प्रकट करे, दूसरों की गुप्त वार्ताओं को न सुने, धर्महीन और राजद्रोहियों के साथ न बैठे, पागल और पतितों के साथ एवं भ्रूणहत्या करनेवालों के, चुगुलखोरों के और दुष्टों के साथ न बैठे ॥ ४६ ॥

बुरी सवारियों में न चढ़े, जानुतुल्य कठिन आसन में

मध्यासीत् नानास्तीर्णमनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत, न गिरिविषममस्तके स्वनुचरेत् ॥ ४७ ॥

न द्रुममारोहेत्, न जलोग्रवेगमवगाहेत्, कूलच्छायां नोपासीत नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत् नोच्चैर्हसेत् न शब्दवन्तं मारुतमुच्चरेत् नासंवृतमुखा- जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्त्तयेत् न नासिकां कुष्णीयात् न दन्तान् विघट्टयेत् न नखान् वादयेत् नास्थीन्यभिहन्यात् न भूमिं विलिखेत् न छिन्द्यात्तृणम् न लोष्टमृद्नीयात् ॥ ४८ ॥

न बैठे, अयोग्य अविस्तृत तथा ऊंचे नीचे बिस्तरमें न सोवे, पर्वत की विषम चोटियों (खतरनाक घाटियों) में न घूमे ॥ ४७ ॥

वृक्ष में न चढ़े, नदी के प्रवाह में स्नान न करे, नदी के किनारे के वृक्ष की छाया को सेवन न करे, आग न लगावे, ज़ोर से न हँसे, शब्दसहित अपानवायु को न छोड़े, विना मुँह पर वस्त्र लगाये जंभाई, खांशी, हँसी न करे, नासिका को न मरोड़े, दांतों को न खटखटावे, नाखूनों को न बजावे, हड्डियों को न तोड़े, जमीन में न लिखे, अकारण तृण को न तोड़े, लोहशस्त्र को हाथ से न मले ॥ ४८ ॥

न विगुणसंज्ञैश्चेष्टेत, ज्योतींष्यग्निं चामेध्यमशस्तञ्च नाभिक्षेत्, न हुंकुर्याच्छवम्, न चैत्यध्वजगुरुपूज्याशस्तच्छायामाक्रामेत्, न क्षपास्वमरसदनचैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानायतनानि आसेवेत नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत, न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत् ॥ ४६ ॥

नोत्तमैर्विरुद्ध्येत नावरानुपासीत, न जिह्मं रोचयेत, नानार्यमाश्रयेत्, न भयमुत्पादयेत् । न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानपानाशनान्यसेवत

दुर्जनों की सोहबत न करे, आकाश की बिजली, अपवित्र और अहित वस्तुओं को न देखे, मृतक को देखकर धिक्कार न करे, श्मशान-भूमि पताका, गुरु, वृद्ध, रोगी इनकी छाया को उल्लंघन न करे, रात में देवमन्दिर, शून्य मन्दिर, आंगण, चौराह, बगीचा और श्मशान स्थानों में वास न करे, अकेला शून्य मकान और जंगलों में प्रवेश न करे, दुराचारी स्त्री, मित्र और भृत्यों को सेवन न करे ॥ ४६ ॥

सज्जनों से विरोध न करे, दुर्ज्जनों की सेवा न करे, कुटिल बात न कहे, असभ्यों का आश्रय न करे, किसी को भी डर न दिखावे, अतिसाहस, अतिशयन, अतिजागरण, अतिस्नान, अतिपान,

नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत् । न व्यालानुपसर्पेत् । न दंष्ट्रिणः न विषाणिनः पुरोवातातपावश्यातिप्रा-तान् जह्यात् कलिन्नारभेत् नानिभृतोग्निमुपासीत नोच्छिष्टो, नाधःकृत्वा प्रतापयेत् नाविगतक्लमो नामनाप्लुतवदनो न नग्नं उपस्पृशेत् न स्नान-शाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गम्, न केशाग्राण्यभिहन्यात् नोपस्पृशेत एव वाससी विधृयात् ॥ ५० ॥

नास्पृष्टारत्नाज्यपूज्यं मंगलसुमनसाभिनिष्क्रा-मेत् न पूज्यमंगलान्यपसव्यं गच्छेत्, नेतरान्यनु-

अतिभोजन को सेवन न करे, बहुत देर तक जानु खड़ा करके न बैठे, सर्पों का पीछा न करे, दांतवाले, सींगवाले जानवरोंके पीछे न दौड़े, मुँह के सामने की हवा घाम अतिदौड़नेवाले के सन्मुख होना तथा झंझावातको न सेवन करे झगड़ा न जोड़े, सावधानी से आग को न सेवे, जूठेहाथों से अग्नि सेवन न करे, नीचे रख कर भी न तापे, रास्ते चलकर विना स्नान से तथा नग्न होकर स्नान न करे, स्नान की हुई धोती से शिर न पोंछे, स्नान करके केशों को न झाड़े, विना आचमन किये वस्त्र न पहिने ॥ ५० ॥

यात्रासमय में रत्न, घी, पूज्य, मंगलवस्तु तथा पुष्पों को विना स्पर्श किये गमन न करे, पूज्य तथा मंगल वस्तुओं को

दक्षिणम् नारत्नपाणिनस्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरुप्य पितृभ्यो नादत्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यः नापुण्यगंधी न मलीनप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमनाभक्ताशिष्टाशुचिक्षुधितपरिचरो नापात्रीष्वमेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्वाग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं न कुत्सयन् न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत ॥ ५१ ॥

बांयें ओर कर गमन न करे, निषिद्ध वस्तुओं की प्रदक्षिणा न करे, रिक्तहस्त, विना स्नान, विना शुद्धवस्त्र, विना जप, विना होम किये, विना देवताओं के समर्पण किये, विना पितरों को दिये, विना गुरुको, विना अतिथियों को, विना आश्रितों को, विना अच्छी सुगंधित माला पहिने, विना हाथ पांव धोये, विना मुखशुद्धि, विना उत्तर मुख, और बिना मनशुद्धि, विना पवित्र वर्तनों व वचनों के, विना पवित्र भूमि, विना कुटम्बियों के, विना बलिवैश्वदेव किये, विना अप्रोक्षित मंत्ररहित निन्दा किये हुए, विना रुचि के प्रतिकूल अन्न को न खावे ॥ ५१ ॥

न पर्युषितमन्यत्र मांसहरितशुष्कशाकफल-भक्ष्येभ्यः नाशेभुक् स्यादन्यत्र दधिमधुलवणसक्तु-सर्पिभ्यः न नक्तं दधि भुंजीत, न सक्तूनेकानश्नी-यात् न निशि न भुक्त्वा न बहून् न द्विनोद-कान्तरितात् न छित्त्वा द्विजैर्भक्षयेत् नानृजुः क्षुयात् नाद्यान्नाशयीत न वेगितोन्यकार्यः स्यात् न वा-य्वाग्निसलिलसोमार्कद्विजगुरुप्रतिमुखं निष्ठीवि-कावातवर्चो मूत्राण्युत्सृजेत् ॥ ५२ ॥

पर्युषित अन्नको न खावे दही शहद (मांस हरा शाक सूखा शाक फल ये पर्युषित नहीं होते) दही शहद नमक सक्तु के अतिरिक्त अन्न खाकर छोड़ देना उच्छिष्ट होते हैं रात्रि में दही न खावे, अकेला सक्तु न खावे, खाकर फिर न खावे, रात्रि में भी न खावे, दोबार भी न खावे, विना पानी के न खावे, विना शस्त्र से कटी हुई वस्तु को दांतों से न खावे, विना सीधे हुए न छींके, छींक के अनन्तर ही भोजन, शयन न करे, कार्यों में शी-घ्रता न करे, वायु, अग्नि, पानी, चंद्र, सूर्य, ब्राह्मण और गुरु इनके सन्मुख थूकना, अपनी अपान वायु का निस्सारण, मूत्र-पुरीषोत्सर्जन न करे ॥ ५२ ॥

न पन्थानमवमूत्रयेत् न जनवति, नान्नकाले, न जप्यहोमाध्ययनवलिमङ्गलक्रियासु श्लेष्मसिंहाणकमुच्चरेत्। न स्त्रियमवजानीयात् नातिविश्रम्भयेत् न गुह्यमनुश्रावयेत् नाधिक्कुर्यात् न रजस्वलां नातुरां नामेध्यां नाशस्तां नानिष्टरूपाचारोपचारां नादक्षिणां न कामां नान्यकामां नान्यास्त्रियं नान्ययोनिं नायोनौ न चैत्यचत्वरचतुष्पथपवनायतनसलिलौषधिगुरुसुरालयेषु न संध्ययोर्नातिनिषिद्धातिथिषु, नाशुचिर्न जग्धभेषजो

रास्ते में पेशाब न करे और जनसमूह में, भोजन समय में, जप, होम, अध्ययन, बलिवैश्वदेव तथा मांगलिक कार्यों में श्लेष्म नासामल को न छोड़े। स्त्री का अपमान न करे, और न गुप्त बात सुनावे, धिक्कार न देवे। रजस्वला, आतुर, अपवित्र, अमंगला, अनिष्टवेशा, अप्रौढदशा, कामरहित, अन्यकामा तथा परस्त्री से, विना योनिके और यज्ञस्थानमें, आंगनमें, चौराहमें, पवनस्थान, श्मशानस्थान, जलओषधिस्थान, ब्राह्मण, गुरु, देवमंत्रियों के स्थान में तथा दोनों संध्याओं में, वर्ज्य तिथियों में, अपवित्र दशा में, औषधिसेवनकाल में, अनविवाहित के साथ और

नाप्रणीतसंकल्पो नानुपस्थितप्रहर्षो नाभुक्तवान् नात्यशितो न विषमस्थो न मूत्रोच्चारपीडितो न श्रमव्यायामोपवासक्लमाभिहतो नारहसि व्यवायं गच्छेत् ॥ ५३ ॥

न सतो न गुरून् परिवदेत्, नाशुचिरभिचारकर्म-चैत्यपूज्यपूजाध्ययनमभिनिवर्तयेत् न विद्युत्स्व-नार्त्तवीषु नाभ्युदिताषु दिक्षु नाग्निसंप्लुते न भूमि-कंपे न महोत्सवे नोल्कापाते न महाग्रहोत्पाताग-मने न नष्टचन्द्रायां तिथौ, न संध्ययोर्न मुखाद्गु-रोर्नावपतितं नातिमात्रं नात्यन्तं न विस्वरं नाति-

विना खुशी की दशा में, भूखे पेट न बहुत खाकर ऊंची, नीची दशाओं में टट्टी पेशाब से पीड़ित होता हुआ, खेद, कसरत, उपवास से, श्रान्तदशा में और जनसमुदाय में मैथुन न करे ॥ ५३ ॥

सज्जन तथा गुरुलोगों की निन्दा न करे, अपवित्र दशा में, आथर्व कर्म, यज्ञस्थान पूज्य पूजा तथा पठन न करे, बिजुली की चमक में, मेघगर्जन में, बीमारी में, संध्यासमय में, आग लगने में, भूमिकम्प में, महोत्सव में, उल्कापात में, ग्रहण समय में, अमावास्या के दिन तथा विना गुरुमुख के स्वररहित,

द्रुतं न विलम्बितं नातिक्लीबं नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरैरध्ययनमभ्यसेत् ॥ ५४ ॥

नातिसमये द्रुह्यात् न नियमं भिन्द्यात् न नक्तं नादेशे चरेत् न संध्यास्वभ्यवहाराध्ययनेषु स्त्रीस्वप्नसेवी स्यात् न बालवृद्धलुब्धमूर्खक्लिष्टक्लीबैः सह सख्यं कुर्यात् । न मद्यद्यूतवेश्याप्रसङ्गरुचिः स्यात् । न गुह्यं विवृणुयात् । न कञ्चिदवजानीयात् । नाहं मानी स्यात् । न दक्षो नादक्षिणो नासूयको न दक्षिणात् परिवदेत् न गवां दण्डमुद्यच्छेत् न वृद्धान्

पदच्छेदरहित, अतिशीघ्र, विलंबता से, अत्युच्च तथातिनीच स्वर से अध्ययन न करे ॥ ५४ ॥

असमय में किसी के साथ द्रोह न करे, नियम को न छोड़े, रात्रिको अज्ञात स्थानमें गमन न करे । संध्या समयमें भोजनकालमें, अध्ययनकालमें, स्त्रीगमन, निद्रा को परित्याग करे, बालक, वृद्ध, लोभी, मूर्ख, रोगी तथा नपुंसकों के साथ मित्रता न करे । मदिरापरायण, द्यूत (जूआ) तथा वेश्यागमन में रुचि न रक्खे । गुप्त-वार्त्ता को प्रकट न करे, किसी का अपमान न करे, अहंकार न करे, अतिचपल अतिमूर्ख न हो ईर्षारहित होवे । चतुर पुरुषों की निन्दा न करे, गौ को ताड़न न करे, वृद्धों को, गुरुलोगों को

न गुरून् न गणान् न नृपान् वाधिक्षिपेत् न चातिब्रूयात् ॥ ५५ ॥

न बान्धवानुरक्तकृच्छ्राद्द्वितीयगुह्यज्ञानं बहिः कुर्यात् । नाधीरो, नात्युच्छ्रितसत्वः स्यात्, नाभृतभृत्यो, नाविस्रब्धी,स्वजनो, नैकः सुखी न दुःखशीलाचारोपचारो,न सर्वविस्रम्भी, न सर्वाभिशङ्की, न सर्वकालविचारी,न कार्यकालमतिपतयेत् । नापरीक्षितमभिनिविशेत्, नेन्द्रियवशगः स्यात्, न चञ्चलं मनो भ्रामयेत्, न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमाद-

जनसमूहों को और राजाओं को धिक्कार न करे । इनके साथ बहुत भाषण भी न करे ॥ ५५ ॥

मित्र-मण्डली के प्रीतिवश होकर कभी किसी के रहस्य को न खोले, अधीर तथा उच्छृंखल न होवे, विना वेतन के नौकरी न करे । किसी का विश्वास न करे, एकान्तिक (ध्यान छोड़) सुखी न होवे, नित्य दुःखियों की संगति न करे, सब पर विश्वास न करे । सब लोगों पर शंका न करे हमेश: सोचता सोचता ही न रहे, काम के वक्त को न गवांवे, अपरीक्षित को प्रवेश न करने देवे, इन्द्रियों के आधीन न होवे । मनको चंचल न करे

ध्यात्, न चातिदीर्घसूत्री स्यात् न क्रोधहर्षावनुविदध्यात् न शोकमनुवसेत् न सिद्धावौत्सुक्यं गच्छेत् नासिद्धो दैन्यम् प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत् हेतुप्रभावनिश्चितः स्यात् ॥ ५६ ॥

हेत्वारम्भं निश्चित्य न कृतमित्याश्वसेत् न वीर्यं जह्यात् नापवादमनुस्मरेत् नाशुचिरुत्तमाज्याक्षततिलकुशसर्षपैरग्निं जुहुयात् आत्मानमाशीभिराशासानः अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीरात् वायुर्मे प्राणा-

बुद्धि तथा सब इन्द्रिओं को अति भार न देवे, अति दीर्घसूत्री न होवे, अति क्रोध और हर्ष को न करे, शोक न करे, कार्यसफलता में अधिक प्रसन्न न होवे। असिद्धि में दुःख न करे प्रकृति को बारबार याद रक्खे कारणोत्पत्ति में निश्चय करे ॥ ५६ ॥

कार्य के आरम्भ में कारण को शोचे, कार्य के लिए इतने पर निश्चित न होवे, अर्थात् ईश्वरीय सत्ता को कार्यसिद्धि में समझे, शक्ति न छोड़े, लोकापवाद का स्मरण न करे, अपवित्रदशा में उत्तम पदार्थ घी, अक्षत, तिल, कुश, सर्षप से अग्नि में हवन न करे, अपने को आशीर्वादों से युक्त करता है, मेरे जठर में जठराग्नि वास करे, वायु मेरे प्राणों की रक्षा

नादधातु विष्णुर्मे बलमादधातु इन्द्रो मे वीर्यम्
शिवा मां प्रविशन्त्वापः आपोहिष्ठेत्यपः स्पृशेत्
द्धिःपरिमृज्योष्ठौ पादौ चाभ्युक्ष्य मूर्द्धानि खानि
चोपस्पृशेत् अद्भिरात्मानं हृदयं शिरश्च ब्रह्म-
चर्यज्ञानदानमैत्रीकरुणाहर्षोपेक्षाप्रशमपरश्च स्या-
दिति ॥ ५७ ॥

करे, विष्णु मेरे बलकी रक्षा करे, इन्द्र मेरे वीर्य की रक्षा करे, कल्याणदायक जल मेरे में प्रवेश करे, आपोहिष्ठेति मंत्र से जल स्पर्श करे, दोबार ओठों को और पैरों को जल से स्पर्श करे, शिर और इन्द्रियों को स्पर्श करे, जल से आत्मा को शिर को प्रोक्षण करे, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मैत्री, दयालुता, हर्षउपेक्षा अर्थात् सज्जनों से मैत्री, दु:खियों पर दया, उच्च कर्मियों पर हर्ष, दुर्जनों की उपेक्षा करता हुआ शांतिमें मेरा हृदय तत्पर रहे ऐसी भावना करे ॥ ५७ ॥

वृक्षविज्ञान ।

मनुष्यजीवन का स्वभावतः वृक्ष, बगीचा, खेती, मकान, जलाशय से नित्य सम्बन्ध है । इसलिए जिन जिन बातों से मानवजीवनी का प्राकृतिक सम्बन्ध रहता है उन उन सम्बन्धों को नियमपूर्वक जानना शास्त्रीयजीवन का उत्कर्ष है अर्थात् जिस पदार्थ से हमारा सम्बन्ध प्रवाहरूप से चला आता है उसमें यह देखना कि इसमें कितना अंश और किस प्रकार का हमें ग्राह्य है और कितना अग्राह्य है प्रायः इस बात को न जानकर स्वाभाविक आवश्यकताओं को जैसे-तैसे पूरा कर देनामात्र लक्ष्य से कभी कभी महान् और अनिवार्य हानियाँ हो जाती हैं, मानव जाति के परम्परागत इन आवश्यकताओं को देख भगवान् कश्यप ने काश्यपसंहिता में वृक्षायुर्वेद रचा है जिसमें वृक्ष और भिन्न भिन्न प्रकार की कृषि का विज्ञान बताया है कि किस प्रकार की खेती करनी हमें धर्म है और कब वृक्षछेदन कर सकते हैं, अनुचित और अनियम तथा अज्ञात वृक्षछेदन से उभयलोक च्युति और वनस्पति हत्या के भ्रूण पाप से वंशनाश तथा पातित्य हो जाता है जिससे वह पाप न लगे और धर्मपूर्वक निर्वाह हो वह सम्पूर्ण स्थापत्य, वार्क्ष, वानस्पात्य, विज्ञान कश्यप ने दिखलाया है, जो पूर्णतया पूर्वीय सिद्धान्तों पर दिखलाया गया है वह न केवल आधिभौतिक सुख और आधिभौतिक

आवश्यकताओं परही है बल्कि आधिदैविक रक्षणपूर्वक आधि-भौतिक आवश्यकताओं के पूर्ति परक है । इसलिए धर्मपूर्वक वृक्ष के सम्बन्ध में जानना परम आवश्यक है ।

इसी प्रकार मकान की आवश्यकता पर विश्वकर्मा ने भवन विचित्र निर्माण पद्धति का आविष्कार कर यह दिखाया है कि "चतुर्लक्षाणि मानवा:" अर्थात् चार लाख की मनुष्य जाति है उसमें भी मनुष्य मनुष्य में अवान्तरभेद होने से प्रतिमनुष्य को पृथक् पृथक् प्रकार के स्थान बनने से जैसे जिसके लिए हितप्रद है और धर्म्य है उसको वैसे वैसे स्थानों में रहने से ही पूर्ण आयु वंशविस्तार होता है ।

मुनि सारस्वत ने भी मनुष्यों का जल से नित्य सम्बन्ध देख भूगर्भ जलवाहिनी शिराओं के विज्ञान दिखाकर धर्मादि साधन के योग्य पूर्त क्रिया (तालाब आदि) बनाना कैसे कैसे स्थान पर जहां पर पातालवाहिनी शिराहो उनका विज्ञान बताया है ।

अब वृक्षारोपण के पूर्व वृक्षाधिष्ठातृ देवता का विकाश एवं खेतीमें देवशक्ति का उदयपूर्वक सस्यसम्पत्ति जिस प्रकार धर्म्य हो उसकी कुछ संक्षिप्त बातें दिग्दर्शन देते हैं ।

अर्थात् किस काल में किस स्थान के किन किन वृक्षों को मनुष्य अपनी आवश्यकता के निमित्त ले सकता है महर्षि याज्ञवल्क्य ने सामान्यतया उपपातक प्रकरण में "इन्धनार्थे द्रुमच्छेदः" द्रुमच्छेदनमात्र उपपातक पढ़ा है परन्तु कश्यप ने अन्यत्र लिखा है कि देववृक्ष

को छोड़ और तीर्थस्थान तथा आरोग्य, युवा वृक्षों को छोड़ कर हवा से गिरे हुए या जिनकी चोटी सूख गई हों ऐसे ऐसे वृक्षों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त ले सकते हो। तीर्थस्थानों में, वृक्षरूप में तथा वल्मीकरूप में, तपस्वी और देवताओं का होना शास्त्रीय दृष्टि से प्रतीत होता है ऐसे स्थानों में केवल वृक्षों की हत्यामात्र से आजीवन करना वृक्षहत्या का पापी होना है और इस हत्या से प्रायः वंशनाश और अन्तिम दशा में घोर आपत्तियां होती हैं, इसलिए शास्त्र के अनुसारही वृक्ष से इन्धन व मकान की लकड़ी लेना उचित है ।

उन वृक्षों को जिनको शास्त्र में छेदन करना लिखा है उन उन तिथि, वार, नक्षत्रों में पूजन कर जितना अपने मकान को आवश्यक है उतने वृक्षों को काटे अधिक नहीं और जहांतक हो वृक्षसम्पत्ति की रक्षा करे ।

वृक्षों का लगाना रोहिणी, मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुनर्वसु, अनुराधा, चित्रा, रेवती, मूल, श्रवण, हस्त, अश्विनी में प्रशस्त है ।

ऐसे ही जब खेती करना हो प्रथम भूमि का संस्कार करक यानी हल लगाकर नई भूमि में—

"शुचिर्भूत्वा तरोः पूजां कृत्वा स्नानानुलेपनैः ।
रोपयेत् रोपितांश्चैव पत्रैस्तैरेव जायते ॥ १ ॥
मृद्वी भू सर्ववृक्षाणां हिता तस्यां तिलान् वपेत् ।

पुष्पितां तांश्च मृद्नीयात् कर्मैतत्प्रथमं भुवः ॥ २ ॥

पवित्र होकर वृक्ष का पूजन करके वृक्ष लगावे प्रथम भूमि को खनकर पत्थर साफ करके कोमल बना ले तब उसमें पहलेपहल तिल बोवै । जब उन तिल के पौदों पर पुष्प लगजायँ तब हल लगाकर उन पौदों को उस जमीन में उलट पलट कर चूर देवे यह भूमि का प्रथम संस्कार है॥१—२॥इससे पृथ्वी की उर्वरा शक्ति का विकाश होता है परन्तु स्मरण रहे कि जिसतरह पश्चिमी कृषिविज्ञानवेत्ता लोगों ने भूमि के एकमात्र आधिभौतिक स्वरूप को लेकर उसमें नई खात डालकर साल के भीतर तीन चार बार खेती करना और परिमाण से अधिक अन्न या स्थूल अन्न बनाने की विधियां लिखी हैं निस्सन्देह वैसे करने से आप के बार अधिक परिमाण अन्न फल आदि उससे ले सक्ते हैं परन्तु उस प्रक्रियामें महान् दोष यहहै कि जो भूमि एक सौ या पांचसौ या सहस्र वर्ष तक फलवती होगी वैसे करने से उसका ओज बहुत शीघ्र नष्ट होकर थोड़े ही काल में उसमें उर्वरा शक्ति का नाश होकर वह भूमि ऊषर बंजर होकर किसी प्रकार उपजाव देने को समर्थ न होगी जैसे एक गाय चार सेर दूध देती है और तीन वर्ष में बच्चा देती है उसे घास दाना देने से जितनी दुग्ध में वृद्धि होती है वह ठीक है परन्तु पम्प लगाकर नमक की पिचकारी देने से जो उससे अधिक दुग्ध लिया जाता है उसका परिणाम यह होता है कि वह दुग्ध जल्दी बन्द होजाता है

और गाय २० वर्ष बचनेवाली चार पांच वर्ष में पूर्णायु कर लेती है यही हाल उस भूमि का समझिए । दूसरा हमारा जो लक्ष्य है कि पशुजीवन से शास्त्रीयजीवन बनाना वह नहीं बनेगा शास्त्रीयजीवन प्रत्येक पदार्थ के अन्दर जो उसका आधिदैविक तत्त्व है उसकी रक्षा का विशेष ध्यान रखता है यदि किसी आधिभौतिक सम्पत्ति के ह्रास होने पर भी आधिदैविक सम्पत्ति की रक्षा होती हो तो उस दशा में आधिभौतिक लाभ पर दृष्टि उतनी न दीजिए जितनी उसके आधिदैविक दशा पर देनी चाहिए हमारी कृषिविद्या यह दिखाती है कि भूमि का अधिष्ठातृ देवता का पूजन और उसका उस भूमि में विकाश होने से तुम्हारी सस्यसम्पत्ति निरन्तर बनी रहेगी यही कारण है कि आजकल इस कृषिविभाग को केवल आधिभौतिक तत्त्वमात्र के उपयोग लेने से प्रायः अन्नकाल और उस अन्न से अल्पवीर्य, रोग, व्याधि, होने लगती हैं । जो अन्न ब्रह्मस्वरूप होने से जीवन, बल, विवेक, बढ़ानेवाला है उसमें आधिदैविकता का नाश करने पर वही विष, काल, अल्प, वीर्यप्रद, होरहा है इसलिए यदि वीर्यवान् होना और अन्न के अमृतमय परिणाम को पाना चाहते हैं तो भूमिविज्ञान को केवल आधिभौतिक विज्ञानमात्र से प्रयोग न करें उसमें आधिदैविक विज्ञान परम आवश्यकहै, जो काश्यपसंहिता तथा वराहमिहर और विश्वकर्माप्रकाश से गम्य है कश्यप कहते हैं बागीचे में प्रथम इन वृक्षों को लगाना—

अशोकचम्पकारिष्टपुन्नागाश्च प्रियङ्गवः ।
शिरीषोदुम्बराः श्रेष्ठाः पारिजातकमेव च ॥
एते वृक्षाः शुभा ज्ञेयाः प्रथमं तांश्च रोपयेत् ॥३॥
पनसाशोककदली जम्बूलकुचदाडिमाः ॥ ४ ॥
द्राक्ष्यापालिवनाश्चैव बीजपूरातिमुक्तकाः ।
एते द्रुमाः काण्डरोप्याः गोमयेन प्रलेपिताः ॥
मूलोच्छेदेथवा स्कन्धे रोपणीयाः परे ततः ॥ ५ ॥
अजातशाखान् शिशिरे जातशाखान् हिमागमे ।
वर्षागमे च सुस्कन्धान् यथादिक्स्थान्प्ररोपयेत् ६

बागीचे में प्रथम अशोक चम्पा अरिष्ट पुन्नाग प्रियङ्ग व शिरीष उदुम्बर पारिजात के वृक्ष लगाने से देवताओं का निवास होताहै।।३।।

उक्त वृक्षों की कलमें इस प्रकार लगानी चाहिएं गांठ की जगे पर पहले गोमय से पट्टी बांधे जब कलम तयार हो तब उसे वहां से काटकर दूसरे सजातीय वृक्ष पर लगावे जब दूसरी जगे वह कलम बांधे वहां मिट्टी से उस जगह का लेपन कर गाढ़ी मिट्टी बांध दे ॥ ४–५ ॥

कलम किस ऋतुमें पृथ्वी पर जमानी चाहिए जिन वृक्षों में लता अंकुर न आए हों उन्हें शिशिर ऋतु (माघ फाल्गुन) में लगावे जिनके लता अंकुर निकल गये हों उन्हें मार्गशीर्ष, (पौष

मास में) जिनकी पत्ती टेनी खूब उठ गई हों उन्हें वर्षाकाल में । जिस दिशा में जो वृक्ष लगाना लिखा है उस क्रमपूर्वक लगाने से उनमें दिव्य शक्तियों का विकाश यानी देवतों का वास होता है॥६॥

घृतशीरतिलक्षौद्रविडङ्गक्षीरगोमयैः ।
आमूलस्कन्धलिप्तानां संक्रामणविरोपणम् ॥ ७ ॥

एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान में Transpantation जब वृक्ष लगाया जाता है उसपर जड़ से लेकर शाखापर्यन्त घी, तिल, शहद, विडंग, गोदुग्ध, गोबर इन सबको इकट्ठा कर हाथ से सब चीजों को मिलाकर उस वृक्ष पर लेपन करदे तब दूसरी जगह पर लगावे ॥ ७ ॥ कश्यपसंहिता में लिखा है—

अन्तरं विंशतिः हस्ता वृक्षाणामुत्तमं स्मृतम् ।
मध्यमं षोडशज्ञेयमधमं द्वादशस्मृतम् ॥ ८ ॥

एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष का अन्तर २० हाथ उत्तम है, जगह कम हो तो १६ हाथ, १२ हाथ से कम अन्तर में फल अच्छे नहीं होंगे । इससे भी बड़े छोटे पौदे के लिहाज से उनके बीच कितनी जगह खाली रहनी चाहिये जिसमें पौदे अपनी गिजा आसानी से खींच सकें, और एक दूसरे का हिंसक न हो सके । मनुष्यों को जैसा जलवायु के परिवर्तन या विषम होने से रोग होते हैं वृक्षों को भी अधिक शीत, धूप, हवा से रोग होते हैं, जो वृक्ष जितना शर्दी, गर्मी, हवा सहन कर सकता है या

जिसको जितने दर्जे की Degree ठण्ड, गर्म हवा की आवश्यकता है उससे अधिक न्यून उस वृक्ष को रोगजनक है यह नहीं कह सकते हैं कि सम्पूर्ण प्रकार के वृक्षों को समान शीत, उष्ण आवश्यक हो वृक्षभेद से फसल के भेदसे उनका तारतम्य जानना चाहिए, जब वृक्ष रोगी होते हैं तब उनके पत्ते धूसर होने लगते हैं, अंकुर मुर्झाने लगते हैं, टैनी सूखने लगती हैं, वृक्ष से रसका निर्यास निकलने लगता है ऐसी दशा में उन वृक्षों की चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ८ ॥

चिकित्सितमथैतेषां शस्त्रेणादौ विशोधनम् ।
विडङ्गघृतपङ्काक्तान् सेचयेत् क्षीरवारिणा ॥ ९ ॥

प्रथम सूखी सूखी टैनियों को कैंची से छांट दे विडंग, घृत, कीचड़ सब इकट्ठा मिलाकर उस पर खूब लेप दे और पानी में दुग्ध मिलाकर उस पानी से सींचता जावे जब तक वह वृक्ष ठीक न होजाय ॥ ९ ॥

जिस वृक्ष के फल सूख जायँ या कीड़ा लग जायँ या फल न आवें उसको कुलत्थ, उड़द, मूंग, तिल, यव इन सबको पीस कर जल में भिगोकर दूध में पका जब वह दूध ठंडा हो जाय (याने दूध इतना जादे डाले कि दवा पककर पनेरी रहे) तब उस दूध से पिचकारी (Injection) करे या जड़में सींचे तब फल खूब लगेंगे कश्यप कहते हैं कि फल जिस वृक्ष में न आवें या कम आवें उनकी चिकित्सा इस प्रकार करे—

अजाविकानां द्वौ प्रस्थौ शकृच्चूर्णं च कारयेत् ।
तिलानामाढकं दद्यात्सक्तूनां प्रस्थमेव च ॥ १० ॥
गोशकृच्छतमेकं स्याद्द्वे सार्धे सलिलस्य च ।
सप्ताहमुषितैरेतैः सेकं दद्याद्वनस्पतेः ॥
स भवेत् फलपुष्पैश्च पत्रैश्चांकुरितैर्वृतैः ॥ ११ ॥

बकरी का गोबर दो प्रस्थ, तिल चार प्रस्थ, एक प्रस्थ यव का सक्तु सौ प्रस्थ गोबर, दोसौ प्रस्थ जल इनकी खात बनाकर सात दिन गढ़े में रक्खे तब वृक्षोंको देवे इससे खूब फल आवेंगे १०—११

बीज अच्छे बनाने का प्रयोग वराहमिहर कहते हैं—

वासराणि दश दुग्धभावितं बीजमाज्ययुतहस्तयोजितम् । गोमयेन बहुशो विरूक्षितं क्रौडमार्गपिशितैश्च धूपितम् ॥ १२ ॥

घी के हाथ से मलकर बीज को दुग्ध में रख दे फिर सुखाकर घी के हाथ से दुग्ध में रक्खे इस तरह १० दिन रोज करता जाय पीछे सूखे गोबर के साथ खूब मलकर दाने दाने सुखा दे तब वह बीज उत्तम धान्य को पैदा करता है ॥ १२ ॥

स्थापत्यविज्ञान

भवन निर्माण के लिए प्रथम यह देख लेना आवश्यक है इस भूमि के चारों दिशाओं में कोई दुष्टवायु या सामयिक नीति से कोई आशंकजनक बात तो नहीं है और हमारी इच्छा के अनुसार मकान बनाने पर उस मकान की पूर्वदिशा, आग्नेय, नैर्ऋत्य दिशामें मकान पर वेध लगानेवाले वृक्ष आदि तो नहीं हैं इतना विचार कर लेने के पश्चात् भूमि की परीक्षा मिट्टी के रंग, स्वाद, जमीन की प्राकृतिक स्थिति आदि से परीक्षा करले ।

वराहमिहराचार्य कहते हैं—

सितरक्तपीतकृष्णा विप्रादीनां प्रशश्यते भूमिः ।
गन्धश्च भवति यस्यां घृतरुधिरान्नाद्यसमः ॥
कुशयुक्ता शरबहुला दूर्वाकाशावृता क्रमेण मही॥१॥

गर्गाचार्य—

मधुरा दर्भसंयुक्ता घृतगन्धा च या मही ।
उत्तरप्रवणा चेति ब्राह्मणानां तु सा शुभा ॥ २ ॥

श्वेतरंग की भूमि ब्राह्मण को उत्तम है, लालवर्ण की क्षत्रिय को, पीत वैश्य को, कृष्णा शूद्र को घृतगन्धा भूमि यज्ञ वृद्धिकरी होने से ब्राह्मण को, रुधिरगन्धा क्षत्रिय को, अन्नगन्धवाली वैश्य को, मद्यगन्धवाली शूद्र को हितकर है । फिर देखे जिस में कुश

पैदा हों वह याज्ञिक भूमि होने से ब्राह्मण को शुभ है, शर कसट-कावृत्त क्षत्रिय को, दूर्वा हरितघासवाली वैश्य को, काशवाली शूद्र को । इसी तरह उत्तर की तरफ ढालू ब्राह्मण को, पूर्व को नमती हुई क्षत्रिय को, दक्षिण को नमी हुई वैश्य को, पश्चिम शूद्र को । अब अव्यक्त गुण, दोष, दैवीपरीक्षा से इस प्रकार करे कि उस स्थान पर रात्रि को चार रंग के पुष्प रख दे जिस रंग का पुष्प विना मुर्झाये सुबहतक रहजाय उस पुष्प के वर्णानुसार उस वर्ण के मनुष्य को वह लाभदायिनी भूमि होगी । यह अव्यक्त गुण-दोष-परीक्षा दैवीभावना करके होती है ॥ १–२ ॥

दूसरा प्रकार ।

"आमेवा मृन्मये पात्रे कृत्वा वर्तिचतुष्टयम् ।
यस्यां दिशि प्रज्वलति चिरं तस्यैव सा शुभा॥३॥

किसी मिट्टी के दीपक पर चार बत्ती जलावे जिस दिशा में जादे देरतक बत्ती जलती जाय वह दिशा शुभकारी है ॥ ३ ॥

अव्यक्त गुणदोष की परीक्षा करने का जहां अवसर देखा गया है प्रायः उसका अन्तिम निर्णय मनोमय देवता पर निर्भर है, परन्तु मनोमय देवता का विकाश उस व्यक्ति के मन पर होता है जहां मन की बीमारियां (असत्यभाषण छल कपट धूर्तता) न हों शकुन्तला में दुश्यन्त का वाक्य है—

"सतां हि सन्देहपदे तु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" ॥ ४ ॥

अर्थात् जब शुद्ध मनुष्यों को किसी बात के निर्णय करने में संदेह रहजाय उस समय मनहीं से निश्चय हो सकता है। वराहमिहराचार्य का वाक्य है—"तत्तस्य च भवति शुभदं यस्य च यस्मिन् मनो रमते" । जिस भूमि में जिसका मनोदेवता रमण करे उसको वही हितकर है ॥ ४ ॥

भूमिपरीक्षा के अनन्तर भूमि शुद्ध करे—

सम्मार्जनेनाञ्जनेन सेकनोल्लेखनेन च ।
गवां च सन्निवासेन भूमिशुद्ध्यति पञ्चभिः ॥ ५॥
गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपूरितं पुनः स्वभ्रम् ६

साफ करना हल लगाना गायों का गोष्ठ बांध कर रखने से भूमि शुद्ध होजाती है ॥ ५ ॥

जहां पर मकान बनाना हो उस घरके मध्य में एक हाथ गहरा गड्ढा खोद कर मिट्टी बाहर निकाले फिर उसी मिट्टी से उस गड्ढे को भरे यदि मिट्टी पूरी न हो तो अनिष्ट, सम होने से समभाव, अधिक होने से वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

इसके अनन्तर गृहस्वामी के हाथ के नापसे नीचे लिखे प्रकार से वास्तु निकाले ।

गर्ग—

गृहान्तरदिशामानं संगुण्य च परस्परम् ।
वसुभिर्भागमाहृत्य शिष्टं वास्तुनरं वदेत् ॥ ७ ॥
रिक्तो ध्वजश्च ध्वांक्षश्च सिंहः श्वा वृषभस्तथा ।
वानरो भद्र इत्यष्टौ ज्ञेयाः वास्तुनरा बुधैः ॥ ८ ॥
बाहो प्रबाहो संयोगादलमन्योन्यताडितम् ।
वसुभक्तं ततः शेषं सेव्यं वास्तुनरं वदेत् ॥ ९ ॥
व्यासं त्रिगुणितं कृत्वा विष्कम्भं तत्समादिशेत् ।
व्यासार्द्धवर्गास्त्रिगुणः फलं स्यात् परिवर्तुले॥ १०॥
द्विर्न्यस्य परिधे वर्गामेकस्मादाश्रितार्द्धितात् ।
लब्धं संशोध्य परतो भक्ता द्वादशभिः फलम् ॥
बाहुप्रबाहुसंयोगादलघातं त्रिकोणके ॥ ११ ॥

मकान की लम्बाई चौड़ाई परस्पर गुणा कर आठ का भाग देकर जो बचे वह क्रम से रिक्तादि वास्तु जाने याने शून्य शेष में रिक्त, एक शेष में ध्वज इत्यादि ।

चतुरस्र क्षेत्र में उसके आयताकार भुज कोणाकार भुज का योग कर २ आधा कर परस्पर गुणा कर आठ का भागदे शेष वास्तु जाने ॥ ७—८ ॥

वर्तुलाकार क्षेत्र में व्यास को त्रिगुणित कर परिधि उसमें जोड़ देवे फिर व्यासार्द्ध १/२ का वर्ग निकाल कर त्रिगुणित करे आठ का भाग देकर वास्तु निकाले ॥ ९ ॥

षट्भुज क्षेत्र में परिधि का वर्गाकार दो स्थान में लिखे फिर सम्पूर्ण भुजयोग के १/२ से दूसरे स्थान में रक्खेहुए संख्या में भाग लेवे लब्धि को उसमें घटाकर तब जो संख्या रहे उसमें १२ का भाग देकर लब्धि में फिर वास्तु निकाले ॥ १० ॥

त्रिकोण क्षेत्र में सब भुजों का योग कर १/२ करे योग को १/२ गुण कर पुनः वास्तु निकाले इस प्रकार गृहस्वामी के हाथ के परिमाण से वास्तु-पुरुष निकाल उस मकान पर रहने से उसका शुभाशुभ क्यों होता है ॥ ११ ॥

हिरण्यगर्भाचार्य का मत है :—

गृहन्तु विविधं प्रोक्तं शरीरैस्तु पृथग्विधैः ॥ १२ ॥

देहों के भिन्न भिन्न होने से उन उन के अनुसार घर भी भिन्न भिन्न प्रकार के होने चाहिएँ ॥ १२ ॥

मकान की नीव ज्योतिषी से दिन दिखाकर उत्तरायण शुक्लपक्ष में आग्नेय दिशा में मकान के नीव का पत्थर शुभ मुहूर्त्तपर मोती, सोना, चांदी, तरह तरह के अन्न, फल, पुष्पों के साथ रक्खे ।

मकान किस वर्ण के मनुष्य को कितना लम्बा-चौड़ा करना चाहिए, उसका विचार विश्वकर्माप्रकाश व किरणातन्त्र में विस्तार से है । कश्यप कहते है :—

"अष्टोत्तरशतं हस्तं विस्तारनृपमन्दिरम् ।
हस्तद्वात्रिंशता युक्तो विचारः स्याद्द्विजालये॥१३॥

१०८ हाथ राजा का मुख्य भवन एवं ३२ हाथ सामान्य व्यक्तियों का एक शालाभवन किरणतन्त्र में लिखा है ॥ १३ ॥

बाकी दरवाजे, दिवाल की मोटाई ऊँचाई, दूसरे ग्रन्थों में है । चतुःशाला जो मकान होते हैं उनमें किस शाला में क्या काम करना चाहिए, ईशान कोण में देवता का स्थान, आग्नेय दिशा में रसोई, नैऋत्य में भण्डार, वायव्य में अन्न का भण्डार किरणतन्त्र में विस्तार से कहा है—

पूर्वस्यां श्रीगृहं प्रोक्तमाग्नेय्यां स्यान्महानसम् ।
शयनं दक्षिणे कार्यं नैऋत्यामायुधाश्रयम् ॥ १४॥
भोजनं पश्चिमायां च वायव्यां धनसञ्चयम् ।
उत्तरे द्रव्यसंस्थानमैशान्यां देवतागृहम् ॥ १५ ॥

यह दिग्विभाग किसी का मत है वास्तुपुरुष से कोई प्रधान पूर्वादि दिशाओं से लेते हैं। पूर्व में गद्दी (प्रधान) स्थान, आग्नेय में रसोई, दक्षिण में शयनागार, नैऋत्य में शस्त्र का स्थान, पश्चिम में भोजन स्थान, वायव्य में भण्डार, उत्तर में खज़ाना, ऐशान्य दिशा में देवता का घर, और जल का भी स्थान रक्खे, अन्यत्र जल का स्थान हानिकारक है ॥ १४–१५ ॥

वास्तु मकान का जहां पर स्थापित किया है वहां से पूर्व उत्तर दिशा की भूमि बढ़ जावे तो धननाश, सन्तान क्षय होता है, वहां पर दुर्गन्ध रहे तो सन्तानहानि होती है, वह स्थान टेढ़ा होजाय तो भ्रातृविनाश, दक्षिण दिशा बढ़ जाय तो गृहस्वामी का जीवन शीघ्र समाप्त होता है इस लिए—

इच्छेद्यदि गृहवृद्धिं समन्ततादि्वर्धयेत्तुल्यम्॥१६॥

यदि उस मकान में समृद्धि बढ़ाना चाहे तो चारों दिशा तुल्य उँचई की हों। अब मकान के चारों ओर के वृक्षों का वेध देखे॥१६॥

गर्ग—

वर्जयेत् पूर्वतोश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा।
न्यग्रोधं पश्चिमे भागे उत्तरे चाप्युदुम्बरम्॥१७॥

पूर्वदिशा में पीपल के होने से मकान में भूत, प्रेत का भय होता है, दक्षिणमें प्लक्ष (पाकर) से हार होती है, पश्चिम में बरगद का पेड़ होने से राजदण्ड का भय, उत्तर में उदुम्बर (गूलर) वृक्ष से नेत्र में पीड़ा होती है, मकान के अति समीप कांटेवाले वृक्षों के होनेसे शत्रुबाधा, दुग्धवाले वृक्षों से धननाश, फलवाले वृक्षों से सन्तानहानि होती है ॥ १७ ॥

यदि कार्यवश मकान के निकट से उन उन वृक्षों को न काट सके तो उनके और मकान के बीच पुन्नाग, अशोक, अरिष्ट, बकुल, पनस, शमी के वृक्षों को पूजन कर लगादे अर्थात् भवन के नजदीक ये वृक्ष लगाने से वार्क्ष वेध नहीं होता है।

शस्त्रौषधीद्रुमलता मधुरा सुगन्धा ॥ १८ ॥

अब अपने मकान के समीप किस किस का घर गृहस्वामी को हानिकारक है उससे बचे वाराहि० ॥ १८ ॥

सचिवालयेर्थनाशधूर्तगृहे सुतवधसमीपस्थे ।
उद्वेगो देवकुले चतुष्पथे भवति चाकीर्तिः ॥१९॥
चैत्यं भयं ग्रहकृतं वल्मीकश्वभ्रसंकुले विपदः ।
गर्तायां तु पिपासा कूर्माकारे धनविनाशः ॥२०॥

अपने घरके समीप मन्त्री का घर होनेसे धन-सम्पत्ति का नाश, धूर्त मनुष्य के पड़ोस से सन्तान क्षय, देवमन्दिर होनेसे उद्वेग, चौराहे के होनेसे यशनाश, चितिवृक्षों के होनेसे घर में भय रहे व बाँबीमिट्टी नजदीक होनेसे विपत्तियां होती हैं गड्ढे गड्ढे होने से पिपासारोग, कूर्माकार ढेल होनेसे धनक्षय होता है ॥ १९-२० ॥

शुद्ध भूमि तथा निर्दोष पड़ोसियों के होनेसे सुख आनन्द होता है।

भूगर्भजलवाहिनी नाड़ीविज्ञान

पुंसां यथाङ्गेषु शिरास्तथैव क्षितावपि प्रोन्नत-निम्नसंस्था ॥ २१ ॥

मनुष्यदेह में जिस प्रकार भिन्न भिन्न कार्यवाहिनी नाड़ियां होती हैं इसी प्रकार पृथ्वी में भी विभिन्न शिरा होती हैं ॥ २१ ॥

उनमें स्वभावतः जिन नाड़ियों के द्वारा भूगर्भगत सलिल स्यन्दन होता है स्थान स्थान में उन अव्यक्त जलवाहिनी शिराओं को व्यक्त वृक्ष, मृत्तिका, वल्मीक चिह्न से जानकर प्रायः मरु देश में भी जल पा सकता है शास्त्रविज्ञान का परम उत्कर्ष यही है कि अव्यक्तदशा में स्थित वस्तु को उसके व्यक्त कार्यों से भली प्रकार जान कर अभीष्टता को प्राप्त करे, प्रायः चार दिशा चार उपदिशाओं में एक एक प्रधान दिव्य नाड़ियां होती हैं जैसे ऐन्द्री, आग्नेयी इत्यादि । इनके मध्य में नवमी शिरा कुमुदा नाम की जलवाहिनी शिरा होती है, इनसे अतिरिक्त सैकड़ों नाड़ियां भूगर्भ में होती हैं इनमें जिन नाड़ियों का सम्बन्ध पाताल से है वे भूशिरा जलवाहिनी शिरा हैं उनका परिज्ञान समीपस्थ वृक्षादि से होता है इस विषय को सारस्वत मुनि ने सारस्वतसंहिता में विस्तार के साथ वर्णन किया है ।

सारस्वत—

निर्जले वेतसं दृष्ट्वा तस्माद्वृक्षादपि त्रयम् ।
पश्चिमायां दिशि ज्ञेयमधः सार्द्धेन वै जलम् ॥ २२ ॥
नरोत्र षष्ठिद्विगुणः चांगुलानां प्रकीर्तितः ।
तत्र खात्वार्द्धपुरुषं भेकपाण्डुरवर्णकः ॥ २३ ॥
मृत्पीतापुटभेदैश्च पाषाणोधस्ततो जलम् ।
शिरा पश्चिमदिक्स्था च वहतीति विनिर्दिशेत् २४

जाम्बुवृक्षात्पूर्वभागे वल्मीको यदि दृश्यते।
तरोः दक्षिणतो हस्तांस्त्रींस्त्यक्त्वाधो जलं वदेत् २५
नरद्वयेऽर्धपुरुषे मत्स्योश्मापक्षिसन्निभः॥
ततोपि मृत्तिका नीला ततो मृष्टं जलं वदेत्॥२६॥

मरु भूमि में जहां जल नहीं है वहां जहांकहीं अमलबेत का वृक्ष दीखे उससे तीन हाथ दूर पश्चिम दिशा में साढ़े नौ फिट गहरे में जलवाहिनीशिरा मिलेगी। उसके चिह्न यह हैं कि प्रथम पाण्डु-रंग के मेढक की आकृत के पत्थर या मिट्टी मिलेगी, पीछे पीले रंग की मृत्तिका, फिर दोनों पुट जिनके फटे हों ऐसे पत्थर मिलेंगे उनके नीचे जल मिलेगा। दूसरी परीक्षा जलरहित देश में यह है जहांकहीं ऐसे स्थान पर जामुन का वृक्ष दीख पड़े उसके पूर्व दिशा में यदि वल्मीक (बांबी) दीख पड़े तब उस वृक्ष के दक्षिण दिशा में तीन हाथ दूरी पर १२½ फिट नीचे खोदने से जल मिलेगा उसके पहले मिट्टी मत्स्य के आकार की हरे वर्ण के पाषाण मिलेंगे, पीछे नीलवर्ण की मृत्तिका मिलेगी, उसके नीचे प्रभूत जल मिलेगा॥ २२–२६॥

तीसरा प्रकार—यदि उदुम्बर का वृक्ष वहां हो तब उस वृक्ष में पश्चिम की ओर तीन हाथ दूरी पर साढ़े नौ फिट या तीन सौ अंगुल परिमित गहराई में जल होगा, उसके पूर्व ६० अंगुल खनने पर श्वेत मिट्टी सर्प के आकार की नजर आवेगी जब

काले काले प्रस्तर दीख पड़ें तब समझना कि जल निकट है ।

चतुर्थ प्रकार—यदि अर्जुन (कदम्ब) वृक्ष के उत्तर की ओर बांबी दीख पड़े तब उससे ३ हाथ पश्चिम दिशा में १५ फिट गहराई में जल मिलेगा, ५ फिट खोदने पर धूसर रंग की मिट्टी मिलेगी, उसके बाद काली मिट्टी, तब पीली, तब बालूवाली, तब श्वेत मृत्तिका, उसके नीचे जल मिलेगा ।

पंचम प्रकार—यदि निर्गुंडी (सिवांली) के वृक्ष पर बांबी लगी हो तो उससे ३ हाथ दक्षिण दिशा की तरफ १० फिट खोदने पर जल मिलेगा, पहले कपिल वर्ण की मृत्तिका, तब पाण्डु वर्ण, पीछे श्वेत वर्ण की मृत्तिका के नीचे जल का श्रोत मिलेगा ।

यदि पाषाणभेद के वृक्ष के बायीं तरफ बेर का वृक्ष हो और वहां पर बांबी हो तब पाषाणभेद के वृक्ष के उत्तर ओर ६ हाथ दूरी पर १५ या १६ फिट गहराई पर जल होगा ।

सारस्वते—

पूर्वभागे बदर्याश्चेद्वल्मीको दृश्यते जलम् ।
पश्चाद्धस्तत्रये वाच्यं खाते तु पुरुषत्रये ॥ २७ ॥
पलाशयुक्ता बदरी यत्र दृश्या ततोपरे ।
हस्तत्रयादधस्तोयं सपादे पुरुषत्रये ॥ ॥ २८ ॥

नरे तु दुण्डुभः सर्पो निर्विषश्चिह्नमेव च ।
अधस्तोयं च सुस्वादु दीर्घकालं प्रवाहितम् ॥२६॥

यदि बेर के वृक्ष के पूर्व की ओर वल्मीक मृत्स्तूप दीख पड़े तब तीन हाथ दूरी पर पश्चिम की ओर जल १५ फिट गहराई पर मिलेगा, उसके खोदने पर प्रथम गोधा दीख पड़े पीछे श्वेत मृत्तिका यदि पलाशवृक्षयुक्त बेर का वृक्ष दीखे और बांबी भी उस पर या उसके पास हो तब १६ या १७ फिट गहराई पर पश्चिम दिशा में जल होगा खोदने पर प्रथम विषरहित सर्प नजर आवेगा ॥ २७-२६ ॥

बिभीतकस्य याम्यायां वल्मीको यदि दृश्यते ।
करद्वयान्तरे पूर्वे सार्द्धे च पुरुषे जलम् ॥ ३० ॥

भिलावा के वृक्ष के दक्षिण तरफ यदि वल्मीक दीखे तब दो हाथ पूर्व की ओर सवासात फिट गहराई में जल मिलेगा, यदि भिलावा वृक्ष के पश्चिम दिशा में वल्मीक हो तो २० फिट पर जल निकलेगा ॥ ३० ॥

तरूणां यत्र सर्वेषामधस्थो दर्दुरो भवेत् ।
वृक्षादुदग्दिशि जलं हस्तात् सार्धैर्नरैरधः ॥ ३१ ॥
चतुर्भिर्पुरुषैः खाते नकुलो नीलमृत्तिका ।
पीतश्वेता ततो भेकं सदृशो श्मा प्रदृश्यते॥३२॥

जिस किसी भी वृक्ष के नीचे मेंढक रहे उन वृक्षों से ३ हाथ उत्तर दिशा में २० फिट गहराई पर जल मिलेगा ५ फिट खनने पर प्रथम नेवला मिलेगा । नीले रंग की मिट्टी, तब पीत, फिर श्वेत मृत्तिका, तब मेंढक की तरह पाषाण, उनके नीचे जल होगा ॥ ३१-३२ ॥

यदि कुरञ्जा के वृक्षके दक्षिण तरफ सर्प का बिल (बांबी) दीख पड़े तब दक्षिण दिशा की तरफ २ हाथ दूरी पर ५ फिट गहराई में जल होगा उसके चिह्न यह हैं ३ फिट खनने पर कछुवा उसमें पहले पूर्व दिशा की सलिलवाहिनी शिरा का उद्घाटन होगा परन्तु उसमें स सामान्य जल वहांही मिलेगा ।

उत्तर दिशा में दूसरी जल की शिरा मिलेगी उसमें हरे रंग के पत्थर दीख पड़ेंगे ।

मधूक (महुवे) के वृक्ष के उत्तर दिशा में यदि सांप की बांबी हो तब उस वृक्ष से पश्चिम दिशा में ५ हाथ छोड़कर ४० फिट में जल मिलेगा। उसमें यह चिह्न होंगे ५ फिट खनने पर सर्प, तब धूमली (रक्त-श्याम) मिट्टी, तब कुलथ के रंग के कंकर मिलेंगे । ऐसे स्थान पर माहेन्द्री नाम की जलवाहिनी नाड़ी होती है इसका जल प्रायः फेनयुक्त होता है ।

यदि कदम्ब वृक्ष के पश्चिम दिशा में सर्प का बिल हो तब उस वृक्ष से दक्षिण दिशा में ३ हाथ दूरी छोड़कर ३० फिट गहराई पर जल मिलेगा; ऐसे स्थानों में कावेरी नाम की रस-

वाहिनी नाड़ी होती है; ऐसे कूप खोदने पर प्रथम लोह, गन्ध-वाला जल ५ फिट गहराई पर स्वर्ण के रंग का मेंढक या मेंढक की आकृति का पाषाण तब पीत वर्ण की मृत्तिका के नीचे प्रचुर जलकोश मिलेगा।

और भार्ङ्गी, त्रिवृत्त, दन्ति, लक्ष्मणा, नवमल्लिका ये ओषधी-वृक्ष जहांकहीं भी हों इनमें से किसी भी वृक्ष के ३ हाथ दक्षिण दूरी पर १५ फिट गहराई पर जल मिल सकता है।

इसी तरह तिलक, आम्रातक, वरुणक, भल्लातक, बिल्व, तिन्दुक, अङ्कोल, शिरीष, अञ्जन, वञ्जुल, अतिबला इन वृक्षों पर यदि वल्मीक लगा हो तब उससे उत्तर की तरफ तीन हाथ दूरी पर २० फिट गहराई में जल मिलेगा पर जहां ये वृक्ष स्वाभाविक हों।

अतृणे सतृणा यस्मिन् सतृणे तृणवर्जिता।
तस्मिन् शिरा प्रदिष्टव्या वक्तव्यं वा धनं तदा॥३३॥
कण्टक्यकण्टकानां च व्यत्यासेम्भस्त्रिभिः करैः।
खात्वा त्रिपुरुषं सार्द्धं तत्राम्भो वा धनं वदेत्॥३४॥

जहां सम्पूर्ण भूमि तृणसंकुल हो और उस भूमि के किसी एक अंश पर घास न हो या सारा जंगल ऊषर (तृण घास के बिना हो) और वहां किसी एक स्थानविशेष में प्रचुर तृण उगे हों तब उस स्थान में जहां सब जगह घास होने पर बीच में खाली

है या घासवर्जित भूमि बीच में तृणवती हो २० फिट गहराई पर जल या धन मिलेगा ।। ३३–३४ ।।

कण्टक्यकण्टकानां व्यत्यासेम्भस्त्रिभिः करैः पश्चात् । खात्वा पुरुषत्रितयं त्रिभागयुक्तं धनं वा स्यात् ॥ ३५ ॥

यदि कांटेदार कोई वृक्ष जैसा खदिर, अकण्टक पलाश आदि वृक्षों के वनमें हो या पलाशादि अकण्टक वृक्ष खदिर के वनमें हो तब उस वृक्ष से पश्चिम में तीन हाथ छोड़कर १५ फिट गहराई में जल या धन मिलेगा ।। ३५ ।।

ऐसी भूमि जहां पैर की आहट से शब्द हो वहां १५ फिट गहराई पर कौवेरी नाम प्रभूत जलवाहिनी शिरा मिलेगी ।

यदि किसी भी वृक्ष की कोई एक शाखा विवर्ण होती नीचे जमीन की तरफ मुड़ जाय वहां भी १५ फिट खनने से जल मिलेगा ।

यदि कण्टकारिका कण्टकैर्विना दृश्यते सितैः कुसुमैः ॥ ३६ ॥

यदि कण्टकारि वृक्ष विना कांटे का श्वेत पुष्पवाला दीख पड़े तब उसके नीचे १५ फिट गहराई पर जल होगा ।। ३६ ।।

सफेद पुष्पवाला कनेर वृक्ष या श्वेत पुष्पवाला पलाश वृक्ष जहां हो उससे दक्षिण में १० फिट गहराई में जल मिलेगा ।

ऐसेही कीकर के वृक्ष के उत्तर में सर्प का बिल हो तब साढ़े चार हाथ दक्षिण की तरफ २० फिट में जल होगा ।

ग्रन्थिप्रचुरा यस्मिन् समीभवेदुत्तरेण वल्मीकः ।
पश्चात्पञ्चकरान्ते शतार्द्धसंख्यैर्नरः सलिलम् ३७

जिस समी के वृक्ष पर कहीं एक ग्रन्थि हो और उससे उत्तर में वल्मीक हो तब वहां पर ५ हाथ पश्चिम १००० फिट पर जल मिलेगा ॥ ३७ ॥

पलाश के वृक्ष के साथ मिली जहां शमी हो वहां पश्चिम दिशा में ३०० फिट पर जल है ।

जहां कुछ दूर तक सर्वत्र भूमि गरम मालूम दे उसके बीच में यदि कहींपर ठण्ढा मालूम पड़े ऐसी ठण्ढी भूमि में कहीं गर्म मालूम पड़े वहां १५ फिट पर पानी होगा ।

हरिश्चन्द्रोपाख्यानम्

एक भारतवर्ष ही नहीं, किन्तु विद्वत्संसार में ऐसे कम मनुष्य होंगे, जिन्हें सत्यव्रतपरायण महाराजा हरिश्चन्द्र का पावन नाम श्रवणगोचर न हुआ हो ।

इस नश्वर जगत् में उन्हीं की ही सच्चरित्र वैजयन्ती, परिवर्तन प्रचण्ड वायुवेग के टकराने पर भी स्थिर बनी हुई है, जिन्होंने अनेकानेक बाधा और आपत्तियों के आने पर भी अपने व्रत की रक्षा की ।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी अभी विवाह कर राज्यप्रासाद में प्रवेश करते ही थे कि समनन्तर जटिलवेश में राज्यलक्ष्मी त्याग कर पूज्य पिता की प्रतिज्ञा पालनार्थ द्वादश-वर्षीय अरण्यव्रतपालन को चल दिए, पिता का स्वर्गवास, माता का वैधव्यदुःख, साध्वी सीता की सुकुमारावस्था, पुनः राज्य करने के लिए वशिष्ठजी का अनुरोध, प्रकृति का परम प्रेम, भरत सहस्रशः प्रार्थना करता है कि पिता का स्वर्गवास होगया है, राज्य शून्य पड़ा है, ज्येष्ठ भ्राता ही राज्य का अधिकारी है, किन्तु भगवान् रामचन्द्रजी को यह सब कठिनाइयां अपने प्रतिज्ञात व्रतपालन से हिला न सकीं । विपत्ति और अनेक विघ्नों को पार कर जिस प्रकार अपने व्रत को पूर्ण किया है उनके पुण्यचरित्र रामायण से भलीभांति समझ सकते हो ।

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने इस वंश की उच्चता और पूज्य होने का जो प्रमाण दिया वह मानवजाति में उच्चता का जीवन है:—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जायँ पर वचन न जाई॥

भीष्मपितामह, पितामह अर्थात् ब्रह्मा के पद से पुकारे जाते हैं, क्योंकि जिस प्रकार अपने व्रत की रक्षा की, पिता की प्रतिज्ञा सत्य रखने को आजीवन ब्रह्मचर्य को धारण किया, जिनको विवाह के लिए माता गान्धारी ने पीछे अनेक युक्तियों से बाध्य भी किया किन्तु भीष्म का उत्तर सुनिए वे अपने उत्तर में क्षत्रियजाति का लक्षण दिखाते हैं।

अर्थात् सत्य से जो क्षत्रिय विचलित होगया फिर उसका क्षत्रियपन ही क्या रहा "[illegible] क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते"

श्रद्धास्पद महाराजा युधिष्ठिर का राज्य त्यागना, कष्ट सहना, सत्य के पालन की अपेक्षा कुछ नहीं था, वस्तुतः जिनका कथन यह रहा कि "स सन्धिमारभ्य सतां सकाशे को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः" अर्थात् जब सबके समक्ष प्रतिज्ञा कर ली तो राज्य के लिए प्रतिज्ञा भ्रष्ट होना सज्जनों का काम नहीं। धन्य धन्य मर्यादापालक पूज्य वंश को जिनके सामने प्रतिज्ञापालन की अपेक्षा राज्यसुख तक तुच्छ हुआ तब और व्यवहार

की गणना ही क्या हो सकती है । पूज्यपाद शंकराचार्य अपने व्रत को निभाने से ही आचार्यपीठ को अद्यावधि उज्ज्वल कर रहे हैं। राजा उत्तानपाद के पुत्र प्रातःस्मरणीय ध्रुव जीने अपने व्रत को पराकाष्ठा तक पहुँचाने से अपनी नित्यता प्राप्त की है । प्रत्येक व्रतधारी अपने व्रत की सफलता और प्रतिष्ठा को तब ही प्राप्त कर सकता है, जब विघ्न और (अन्तरायों) को पार करने में विचलित न हो, इस पर एक उज्ज्वल इतिहास महाराज हरिश्चन्द्र का है जिसकी दृढ़ निष्ठा से एक पार्थिव सृष्टि ही सन्तुष्ट न हुई बल्कि दिव्य आन्तरिक्ष देवता भी सुप्रसन्न हुए, उस मंगलमय समय में दुष्ट राज्यशासन से जो अन्नकाल अकाल मरणादि उत्पात होते हैं कोई भी उत्पात सुनाई नहीं देते थे, पुत्र पिता के आज्ञाकारी, स्त्री पति के अनुगामिनी, शिष्य गुरु के अनुयायी इस प्रकार सम्पूर्ण अपनी अपनी मर्यादा पर स्थित थे । हरिश्चन्द्र का "सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्" यही महावाक्य सर्वस्व था, महर्षि विश्वामित्र से यज्ञनिमित्त दक्षिणा देने की जो प्रतिज्ञा की थी उसके पालन के लिए राज्य छोड़ा, धन-सम्पत्ति की तो गणना ही क्या थी, प्रेयसी पत्नी और वंशविस्तारक प्रिय पुत्र तक विक्रय कर दिया इस पर भी दक्षिणा पूर्ण न होने से चाण्डाल का दासत्व और उन हृदयविदारक घटनाओं में प्रवेश कर धैर्य और सत्य प्रतिज्ञा का, अविनाशिधर्म का साक्षात्कार कर दिखाया जिसके सुनते ही अश्रुपात और रोमाञ्च होते हैं, किन्तु घोर

आपत्तियों के आने पर भी अपनी सत्य प्रतिज्ञा का परित्याग न किया । परिणाम में उस व्रत से जो अमानुषीय फल हुए वह इतिहासवेत्ताओं को परमेश्वर के भक्तवत्सल और सत्य के अनन्त फल की शिक्षा देनेवाले हैं ।

एक समय राजा हरिश्चन्द्र वन में विचर रहे थे, कि आकस्मिक एक करुणा भरी दुःख की पुकार राजा के कर्णगोचर हुई । राजा के चारों ओर दृष्टि देने पर कोई भी जीव दिखाई न दिया, फिर तत्काल वैसे ही वह शब्द जोर जोर से सुनाई दिया कि "मेरी रक्षा करो मेरी रक्षा करो" यह सुन राजा को यह प्रतीत हुआ कि किसी न किसी स्त्री का यह आर्तनाद है ।

यह जान राजा जैसे उसकी रक्षानिमित्त शब्दानुसारी हुआ तैसे ही उस अरण्य में एक भयानक विघ्नराज का राजाको साक्षात् हुआ, जो किसी मनुष्यजाति पर चिपट कर अपना दुष्ट प्रभाव डालना चाहता था, इधर विश्वामित्र असिद्ध विद्याओं को प्रखर तप से सिद्ध कर रहे थे । वह जो किसी स्त्री का आर्तनाद सुनाई दिया था वह वियोगिनी या दुःखिनी बाला का विलाप या आर्तक्रन्दन नहीं था किन्तु विश्वामित्र जिन असिद्ध विद्याओं को सिद्ध कर रहे थे महर्षि के उग्र तपस्या से भयभीत होकर उन विद्यारूपिणी स्त्रियों का वह दुःखनाद था । इधर जहां विद्या ही विश्वामित्र के उत्कृष्ट तपप्रभाव से भयभीत होरही थी, वहां उस तपोमूर्ति (विश्वामित्र) पर तो विघ्न अपना प्रभाव डाल ही नहीं सकते थे ।

राजा को क्रोधदशा में देख विघ्न को राजाके शरीर पर प्रभाव डालने का अवसर मिला ।

अब हरिश्चन्द्र की तीव्र परीक्षा का समय उपस्थित होता था, राजा को तत्काल तमोगुण छा गया, स्त्री के रुदन की ओर देख कर बोला मत डर मत डर कौन दुष्ट है जो मेरे होते हुए इस प्रकार इस निर्जन वन में रक्षायोग्य स्त्रीजाति से अनुचित व्यवहार कर रहा है । अरे ! अग्नि को वस्त्र पर लपेट कर निर्भय ले जाना चाहता है । क्या मेरे प्रखर बाणों से भेदित होकर तू दीर्घ निद्रावलम्बन करेगा ? हे स्त्री को दुःख देने-वाले ! विदित होता है कि तू यमराज के आतिथ्य ग्रहण करने का उत्सुक है । राजा की इस प्रकार तीव्रतर घोषणा सुनकर जैसे विश्वामित्र को क्रोध हुआ वैसी विद्या वहां से अन्तर्धान हुई ।

इधर तपोमूर्ति विश्वामित्र को देखकर राजा अश्वत्थपत्रवत् कम्पायमान होने लगा । विश्वामित्र राजा को देख सक्रोध भृकुटी उठाकर बोले दुरात्मन् ! खड़ा रह, राजा सुनते ही नम्रतापूर्वक ऋषि के पादाभिवन्दन कर प्रार्थना करने लगा । प्रभो ! यह मुझे मालूम नहीं था कि आप भी इस विपिन में विचर रहे हैं इस निर्जन अरण्य में स्त्री के आर्तनाद सुन कर किसके मन में दया उत्पन्न न होती जिस पर दुःखियों की रक्षा करना ही राजा का परम धर्म है । क्योंकि:—

दातव्यं रक्षितव्यञ्च धर्मज्ञेन महीक्षिता ।
चापं चोद्यम्य योद्धव्यं धर्मशास्त्रानुसारतः ॥ १ ॥

दान देना, रक्षा करनी और न्यायपूर्वक युद्ध, यह राजा का धर्म ही है ॥ १ ॥

इस वाक्य को सुनकर विश्वामित्र बोले यदि आप राजधर्म-वेत्ता हो और अधर्म से भय है तो शीघ्र यह बतलाइये कि कौन दान लेने का अधिकारी है और किसकी रक्षा की जाय कैसे शत्रु से युद्ध हो । राजा उत्तर देता है:—

दातव्यं विप्रमुख्येभ्यो ये चान्ये कृशवृत्तयः ।
रक्ष्या भीताः सदा युद्धं कर्तव्यं परिपन्थिभिः ॥ २ ॥

श्रेष्ठ (विद्वान् तपस्वी) ब्राह्मणों को दान देना तथा दुर्बल ग़रीबों की सहायता करना भयभीत की रक्षा करनी, अनीति पर चलनेवालों से युद्ध करना यह क्षात्रधर्म राजा को परम कर्मव्य है॥२॥

इस उत्तर से सन्तोषित हुए ऋषि राजसूय यज्ञ के लिए सर्वस्व दान मांगने लगे, सत्यसन्ध दानी हरिश्चन्द्र ने स्वीकार किया । राज्य, धन, भृत्यादि सर्वस्व ऋषि को समर्पण कर केवल साध्वी राज्ञी और पुत्र रोहिताश्व को साथ ले तपस्या के लिए काशीपुरी को जाने लगे, राजा के वियोग से व्याकुल नागरिक लोग शोकातुर होते हुए राजा के दर्शनार्थ आबाल वृद्ध, नर नारी, बालकों को गोद में लेजाकर मार्ग में गये, चित्त की वियोगाग्नि

को अश्रुपात से शीतल करते हुए, गद्गद वाणी से बोले। प्रभो ! हम दुःखियों का क्या अपराध है जो बलात् आप ने हमारा त्याग किया, इस दुःखिनी प्रजा पर टुक दृष्टिपात तो कीजिये, किस शोकाग्नि से संतप्त हो रही हैं। इस बीच विश्वामित्र ने वहां पर उपस्थित होकर राजा को धिक्कार और थूत्कार किया कि "तुझ लोभाकृष्ट राजा को लज्जा नहीं" जो दिये हुए दान पर फिर दृष्टि डाल रहा है, अरे पापी ! प्रतिज्ञात असमग्र दक्षिणा देकर जा रहा है अवशिष्ट दक्षिणा को भी दे जा। राजा धर्मभय से कांपता कांपता एक मास में दक्षिणा का अवशेष भाग समर्पण कर दूंगा यह कह कर स्त्री पुत्र को साथ लेकर चल दिया। कहां तो छत्र चामरादि से विभूषित राजप्रासाद में विहार करना हाय ! दैव अब वानप्रस्थ के वेश में केवल स्त्री और पुत्र को साथ लेकर काशीपुरी में हरिश्चन्द्र पहुँचे, ऋषि के साथ जो एक मास में अवशिष्ट दान देने की प्रतिज्ञा की थी, उस समय के उपस्थित होते ही विश्वामित्र राजा के सन्मुख जाकर तीव्रतर्ष के साथ कहते हैं। राजन् ! एक मास समाप्त होचुका है, अब दक्षिणा दीजिए। राजा अञ्जली बांध प्रार्थना करता है। महर्षे ! स्त्री पुत्र और मेरा शरीर आपके सन्मुख है, जिससे आपका कार्य हो स्वीकार कीजिये किन्तु ऋषि केवल धन की ही याचना का अवरोध कर रहे हैं, अब मासपूर्ति में दिनार्द्ध शेष है इतने काल की ओर

प्रतीक्षा कीजिए यह राजा ऋषि से कह धन का आगमन सम्भव न देख धर्म से अत्यन्त शोकार्त होगया, हाय ! क्या करूं, कहां जाऊं । ब्राह्मण से जो प्रतिज्ञा की उसके अपूर्ण होने पर न जाने किस नारकीय गति को भोगना पड़ता है इस तरह शोकसन्तप्त सत्यसन्ध राजा को देखकर राजपत्नी बोलीः—

त्यज चिन्तां महाराज स्वसत्यमनुपालय ।
श्मशानवत् वर्जनीयो नरः सत्यबहिष्कृतः ॥ ३ ॥
नातः परतरो धर्मः वदन्ति पुरुषस्य तु ।
यादृशं पुरुषव्याघ्र स्वसत्यपरिपालने ॥ ४ ॥

राजन् ! चिन्ता मत करो अपनी सत्य का पालन कीजिये । सत्य का परित्याग जिसने किया वह पुरुष श्मशान की तरह त्याज्य है । पुरुषश्रेष्ठ ! सत्य के पालनतुल्य दूसरा धर्म नहीं । अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, दान, धर्मादि तबतक सब निष्फल हैं । जबतक सत्य का पालन न किया जाय ॥ ३—४ ॥

हे राजन् ! अब मेरी सन्तान होगई ? इस शब्दार्द्ध को शोकावरोध गद्गद वाणी से कहते ही राज्ञी शोकार्ता होकर मूर्च्छित होगई । रानी को शोक से सन्तप्त देख राजा बोले । हे प्रिये ! सन्ताप मत करो, रोहिताश्व तुम्हारे सन्मुख है, क्या कहना चाहती हो, रानी चेतनावलम्बन कर अपने अभिप्राय को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करनेलगी :—

**"राजन् जातमपत्यं मे सतां पुत्रफलास्त्रियः ।
स मां प्रदाय वित्तेन देहि विप्राय दक्षिणाम्" ॥५॥**

राजन् ! अब मेरे संतति हो गई है, स्त्रियों को पुत्रोत्पत्ति तक ही गृहस्थ ऋण है, सो आप मुझे बेचकर ब्राह्मण को दक्षिणा दीजिए ॥ ५ ॥

महाराज्ञी के इस दशा में ऐसे वाक्य सुन राजा का चित्त अत्यन्त विदीर्ण हुआ और मूर्च्छित हो कर गिर गया। राजा को मूर्च्छितावस्था में देख रानी हाय राजन् ! पुष्पशय्या छोड़कर आज इस कण्टक प्रस्ताराकीर्ण ऊपर भूमि ही आपको दैवने कोमल शय्या बनाई है, इस प्रकार विलाप करती हुई, स्वयं भी भूमि पर कमलिनी की तरह गिर मूर्च्छित हुई, इधर पतिपत्नी इस शोककाण्ड से मूर्च्छित ही थे कि विश्वामित्र तत्काल वहां पर उपस्थित हो दम्पती को उस दशा में देख शीतल जल सिञ्चन कर, अवशिष्ट दक्षिणा को मांगने लगे । बोले कि दूसरे का ऋण जितने अधिक समय तक रखा जाय उतना ही वह बढ़ता जाता है, राजन् ! अपनी प्रतिज्ञा को सोचो ।

सूर्य सत्य से प्रकाश करता है, पृथ्वी सत्य के आश्रय पर है, सत्य ही परम धर्म है । सौ अश्वमेध और एक सत्य की तुलना की जाय तो सत्य ही श्रेष्ठ निकलेगा । विश्वामित्र के इस तरह के वचन सुन इस घोर धर्मसंकट में राजा रानी से बोला, "अहो,

हत्यारे भी जिस निन्दनीय कर्म को नहीं करते हैं अर्थात् (स्त्री विक्रय) अब मुझे वह नीच वृत्ति की शरण लेनी पड़ती है यह कह कर (अपनी प्राणप्रिया को बेचने नगर में जाता है) निदान राजा नगर में जाकर स्त्रीविक्रय के लिये पुकार करने लगा। इस बीच एक वृद्ध ब्राह्मण उस स्थान पर पहुँच कर बोला भाई मेरी स्त्री सुकुमारी है वह घर का कार्य नहीं कर सकती अत: गृहकार्य के लिए मैं इस स्त्री को मोल ले सकता हूं, यह कह कर राजा को उसका मूल्य दे राजपत्नी को अपने साथ ले चला बालक रोहिताश्व माता की दशा देख फूट फूट कर रोता हुआ मा, मा, कहता पीछे हो लिया, बालक के वियोग को देख रानी अश्रुपूर्णनेत्रों से वृद्ध ब्राह्मण को देख कर उच्छ्वास लेती हुई बोली, प्रभो ! जिस प्रकार गाय के साथ उसका वत्स भी मोल लेते हैं कृपया मेरे साथ इस बालक का भी मूल्य देकर ले लीजिए, ब्राह्मण बालक का मूल्य राजा को देकर उन दोनों को अपने घर ले गया, हरिश्चन्द्र राज-महिषी की इस दशा को देख शोक और वियोग से सन्तप्त होकर रोने लगा हाय ! राजभवन की राजलक्ष्मी ? जिसके स्पर्श को सूर्य, चन्द्र नहीं कर सकते थे जिसकी सुकुमारता शिरीष पुष्प से भी अधिक थी, आज वह प्राणप्रिया मुझ दुष्ट की निर्बुद्धि से दासीभाव को प्राप्त करवाई गई। पुत्र, सूर्यवंशी युवराज ! तुम्हारा विक्रय भी आज मैंने किया, अनेक तरह अपने को शोकाकुल हो धिक्कार करता हुआ भी सत्यव्रत पालन

की अपेक्षा इस कष्ट को तुच्छ प्रतीत कर रहा था । राजा के विलाप करते करते राजपत्नी और राजकुमार दृष्टि से बाहर होगए । उनका मूल्य ऋषि को समर्पण किया, उस धन को स्वल्प देख कर ऋषि क्रोधित हो भ्रुकुटी उठाकर राजा से बोले, मेरे यज्ञ की पूर्त्तियोग्य द्रव्य दो इस द्रव्य से क्या बनता है ? यदि अब विलम्ब हुआ तो मैं तुम को शापाग्नि से भस्म कर दूंगा, अभी एक प्रहर दिन बाकी है इतने ही समय में आप उस धन को पूर्ण कर दें । इस तरह कहकर ऋषि चल दिये, अब राजा धर्म की कठोराति कठोर परीक्षा पार करने की घाटी पर पहुँच गए । मन में विचारते हैं स्त्री, पुत्र बेच चुका हूं केवल यह शरीर बाकी है, इस को बेचकर जो धन होगा वह ऋषि को अर्पण किया जायगा, यह निश्चय कर * आत्मविक्रय के लिए नगर में जैसे धनियों से पुकार करने लगा तैसे तत्काल वहां क्या देखता है, एक मलीन वस्त्रधारी विरूप और भयानक दन्तनखी, श्वानों को साथ लिए दुर्गंधि से आच्छादित व्यक्ति

---

* जब एक बेर प्रतिज्ञा हो गई अब उससे च्युत होना कुल पर कलंक लगाना समझते हैं ठीक है:—

वचनं महाजनानामम्भः सरितां दशा च देहानाम् ।
एतत्त्रयमिह लोके न प्रत्या वर्तते जातु ॥

सज्जनों के वचन, शरीर की दशा, गंगा का प्रवाह जो आगे निकले फिर पीछे नहीं मुड़ते हैं ।

खड़ा होकर जो स्वयं अपना परिचय दे रहा है कि मैं "यहां प्रेतों के वस्त्रों का लेनेवाला मुख्य चाण्डाल हूं मुझे बहुमूल्य से मनुष्यों की आवश्यकता रहती है मैं तुमको मूल्य देकर लेता हूं" । इस प्रकार उस चाण्डाल के वाक्य सुनकर राजा अपने आप को धिक्कार देता हुआ कहता है, "अहो, चाण्डाल के दासत्व की अपेक्षा शापाग्नि से भस्म होना ही क्या श्रेयस्कर कर्म होगा नहीं नहीं" यह कह ही रहा था कि इतने ही में विश्वामित्र उपस्थित हो गए और बोले कि "विपुल धन से जब यह तुम को मोल लेता है तो विलम्ब मत करो" ऋषि के इस वचन पर राजा बोला, प्रभो ! यह शरीर सूर्यवंश से उत्पन्न हुआ एकमात्र द्रव्य के लोभ से चाण्डाल का दास होना उचित नहीं मालूम देता, मैं आप की शरण हूं, इस आपत्ति से रक्षा कीजिए यह शरीर आप के चरणों में ही समर्पित है । यह सुन ऋषि बोले अस्तु, जब तुमने अपना शरीर मेरे अर्पण कर दिया तो मैंने भी विपुल धन लेकर तुम्हें चाण्डाल के पास वेच दिया अब तुम्हारा कोई वक्तव्य शेष नहीं है । चाण्डाल ने विश्वामित्र को उसका मूल्य सौंप दिया । अब राजा चाण्डाल का सेवक होकर उसका अनुयायी हुआ, अपने मन में स्त्री और पुत्र के वियोग से व्याकुल होता हुआ कहता था "वह दीना अश्रुपूर्णमुखी बाला मेरी प्रतीक्षा करती होगी कि राजा हमारी सुध लेगा" इस प्रकार मन में विलाप करता

हुआ हाय, दैव ! * राज्य का नाश, मित्रों का वियोग, स्त्री-पुत्र का विक्रय करने पर भी चाण्डाल का दास बनना पड़ा । अब चाण्डाल ने राजा को श्मशानभूमि की सेवा में नियुक्त किया। राजा श्मशान में पहुँचा जहां चारों ओर से दुर्गन्धिमय धूम भवक रहाहै, भयानक शवकलेवरों का मन्दिर बनाहुआ है, विशीर्ण प्रेतों की दन्तपंक्ति मानो सांसारिक जीवों की दशापर उपहास कर रही है; इस अवस्था में शोकसंतप्त हो राजा कहने लगा :—

हा भृत्याः मन्त्रिणो विप्राः क्व तद्राज्यं विधेः गतम्।
हा शैव्ये पुत्र हा बाले मां त्यक्त्वा मन्दभागिनम् ६

हा भृत्य, मन्त्रीगण ! पुत्र ! हा शैव्ये ! मुझ हतभागी का परित्याग कर तुम कहां गये हो ॥ ६ ॥

इस प्रकार शोक करताहुआ चाण्डाल की आज्ञा से श्मशान में निर्दिष्ट सेवा करता था । एक दिन श्रान्तिवश जब राजा को निद्रा आई, निद्रा में एक भयानक स्वप्न देखा, तत्काल जाग कर साथी चाण्डालों से पूछता है । क्या १२ वर्ष मुझे यहां बीत गए हैं, उन्होंने कहा नहीं नहीं ? तब राजा स्वप्न से व्याकुल हो परमेश्वर की शरण लेकर शङ्कटमोचन स्तुति करने लगा—

"स्वस्ति कुर्वन्तु भो देवाः शैव्याया बालकस्य च।
नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ॥ ७ ॥

---

* क्षते प्रहाराभिपतन्त्यभिक्ष्णम् ।
कठिन दशा के आने पर दुःखमें दुःख आता है और चोट पर चोट लगती है ।

पारावाराय शुद्धाय पुराणायाव्ययाय च।
नमो बृहस्पते तुभ्यं नमस्ते वासवाय च" * ॥८॥

इस प्रकार भगवान् की प्रार्थना करके फिर चाण्डालवेश में फिरने लगा, कुछ ही समय बीता होगा कि राजपत्नी सांप के काटने से मृतपुत्र को गोद में लेकर वहां पर पहुँची। "हे वत्स, हाय देव!" विलाप करती हुई शिर को भूमि से पटक रही, हाथों से वक्षस्थल को तोड़ती हुई हृदयविदारक आर्तनाद करती हुई कहती है। हे राजेन्द्र! हाय जिस बालक को आप पृथ्वी पर क्रीड़ा करते हुए छोड़ आये थे वह आज कराल सर्प के दंश से मुझ दुःखिनी को घोरातिघोर शोकानल में छोड़कर मृत होगया है। इस तरह विलापिनी के शब्द सुन हरिश्चन्द्र शीघ्र उस ओर गया, मलीन वस्त्र वृता महिषी को न पहिचान सका, राजपत्नी भी शुष्कवृक्ष के समान एवं धूलिधूसरांग पटच्चरधारी वेश में शोक की दशा पर राजा का न पहिचान सकी। हाय दैव! पति पत्नी को नहीं पहिचानता, पत्नी पति को नहीं; क्या घोर दशा थी, जब राजा ने कम्बल में लपेटे हुए राजचिह्नयुक्त उस बालक को देखा और कहने लगा, यदि कराल काल का कवल न हुआ हो तो ऐसी आकृति का मेरा पुत्र रोहिताश्व भी था। इतना सुन इधर रानी शोकार्त हो विवश चिल्लाने लगी। हा वत्स, हे नाथ! किस घोर

* विपत्ति में इस के पाठ करने से संकट दूर होता है।

शोकसागर में तुम मुझे डाल गए हो, बड़े दुःख से अतिनिश्वास लेकर रानी बोलीः—

"राज्यनाशं सुहृत्त्यागो भार्यातनयविक्रयः ।
हरिश्चन्द्रस्य राजर्षेः किं विधे न कृतं त्वया" ॥६॥

हे दैव ! हरिश्चन्द्र के लिए तूने क्या नहीं किया ॥ ६ ॥

यह सुनकर राजा को ज्ञान होगया कि यह मेरी राजपत्नी है और यह वही राजपुत्र रोहिताश्व है पति-पत्नी को परस्पर उस समय जो क्लेश हुआ उस दशा के प्रकट करने में पाषाणहृदय भी क्यों न हो, तब भी विदीर्ण हो जायगा, मनुष्य के कोमलहृदय की तो क्या कथा है, लेखनी नहीं उठती, रोमांच होकर हृदय विदीर्ण होता है। किन्तु सहस्रशः मुख से धन्य है महाराज हरिश्चन्द्र के धैर्य की असीम मर्यादा को । निदान अत्यन्त शोकाकुलित हो दोनों मूर्च्छित होकर भूमि में गिर पड़े कुछ देर में राजा को चेतना आई अब उस दारुण शोकघटना को देख पति-पत्नी परस्पर मन्त्रणा कर चिता में बैठने को उद्यत हुई, जैसे चिता बना पुत्र रोहिताश्व को गोद में ले भगवान् का ध्यान कर अग्नि देने को तैयार हुई थीं कि धर्मदेव साक्षात् वहां पर उपस्थित होकर बोले, धन्य धन्य हरिश्चन्द्र ! अब तुम सत्य और धैर्य की उच्च परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये हो, हे महाभाग ! तुम ने सनातन लोक जीत लिए, तत्काल इन्द्र का भी वहां पर साक्षात् हुआ । रोहिताश्व

को अमृतसिंचन से संजीवित कर इन्द्र बोला, महामते, धर्मज्ञ, हरिश्चन्द्र ! आपके लिये स्वर्ग के द्वार खुल गये हैं वहां विराजिए, हरिश्चन्द्र धर्म और इन्द्र को प्रणाम कर और अपने संजीवित पुत्र रोहिताश्व से परस्पर मिल प्रेमाश्रु से वियोगाग्नि को शमित कर बोला, देवराज ! यदि आप प्रसन्न होकर मुझे स्वर्गीय गति प्रदान करते हैं तो कौशल के लोग जो मेरे वियोगजन्य शोक से सन्तप्त हैं उनको भी मेरे साथ स्वर्ग जाने की आज्ञा दीजिए । क्योंकि :—*

"ब्रह्महत्या गुरोर्घातः गोवधः स्त्रीवधस्तथा ।
तुल्यमेभिः महापापं भक्तत्यागे विधीयते" ॥१०॥

अर्थात् ब्रह्महत्या, गोवध, स्त्रीवध के समान पाप अपने सेवक के छोड़ने में है ॥ १० ॥

इन्द्र बोले, राजन् ! प्रत्येक व्यक्ति के शुभाशुभ कर्म पृथक् पृथक् होते हैं उनके अनुसार उनको स्वर्ग नरकादि भोगना पड़ता है, यह सुन हरिश्चन्द्र ने कहा, राजा जो कुछ शुभाशुभ कर्म करता है वह मन्त्री, भृत्य, प्रजा की सहायता तथा कुटुम्बियों के साथ करता है । मेरे शुभ कर्म करने में जैसे वे सहायक थे, उसी तरह उस कर्म के फल भोगने के भी वे अधिकारी हैं या बहुत दिन भोग करने के योग्य जो स्वर्गफल मुझको आप देते हैं उसको

---

* हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः ।

सबके साथ मिलकर हम एक ही दिन भोग करें वह श्रेष्ठ है, किन्तु आप ही आप स्वर्गसुख भोगने के लिए उन भक्तों का संग त्यागना मेरे लिए अत्यन्त स्वार्थपरायणता और निन्दनीय कर्म है । राजा के इन धार्मिक और भक्तवत्सलता के वचनों को सुनकर इन्द्रने प्रसन्न हो स्वीकार किया, तत्काल धर्म और विश्वामित्र अनेक विमानों को लेकर वहां आये. उनकी आज्ञा से रोहिताश्व को विधिपूर्वक राज्यतिलक दिया, नगर में मंगल वाद्य बजने लगे । इस उत्सव के अनन्तर हरिश्चन्द्र सत्यनिष्ठा का आदर्शचरित्र भूलोक में छोड़ कर अपने प्रिय भक्तों के साथ स्वर्ग को पधारे, आकाश में दुन्दुभी आदि वाद्य बजे, पुष्पवृष्टि होने लगी, शुक्राचार्य प्रसन्न होकर सत्य-प्रिय राजा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगे :—

हरिश्चन्द्रसमो राजा न भूतो न भविष्यति ।
यः शृणोति सुदुःखार्तः स सुखं महदाप्नुयात् ॥११॥

हरिश्चन्द्र के समान सत्य-प्रिय तथा धर्मवान् कोई भी राजा न हुआ है, न होगा । जो अति दुःखी भी मनुष्य इस पवित्र चरित्र को सुनेगा उसको संपूर्ण सुख प्राप्त होगा ॥ ११ ॥

नोट—जेहि राख्यो निज धर्म को, तेहि राख्यो कर्तार ।
धर्मो रक्षति रक्षितः ।

अस्तेयशिक्षा ।

(मागृधः कस्यचिद्धनम्)

किसी वस्तु को जिस पर अपना स्वत्व (हक) नहीं है उसको छल से, या बलात्, या अविचार से जो प्राप्त करना है वह भी स्तेय है ।

मनुष्य को प्रत्येक दशा में जब कभी किसी वस्तु के लेने की आवश्यकता मालूम हो, तब यह विचार लेना चाहिए कि इस वस्तु पर मेरा स्वत्व है या नहीं, जिस पर अपना स्वत्व न हो उसे कदापि ग्रहण न करे । अन्यायप्राप्त और अनधिकारप्राप्त धन प्रथम तो इस जीवन ही में व्यवहार से उसकी दुर्दशा कर देते हैं यथा कथंचित् यह भेद छिपा भी रहे तो परलोक में तत्काल वह दण्डभागी होता है, इच्छादेवी के प्रबल ताण्डवनृत्य से आपातालमूल धैर्यद्रुम भी विचलित हो जाते हैं तब धैर्यलेशावशेष शिश्नोदरपरायण स्वार्थान्धकार व्यक्तियों की कथा ही क्या है ।

जब तक अन्याय या अनधिकारप्राप्त धन लेने की इच्छा से अत्यन्त उपराम न हो जाय, तब तक वह मनुष्य पशुपाश में जकड़ा हुआ है, परमात्मा की इस लीलामय संसाररूपी रंगभूमि में मनुष्याकृति के विकलपुच्छ द्विपद पशु और दैत्य-दानव सब अपनी अपनी आकृति के अनुकूल उत्तर परिणाम को न देखकर:—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

इस प्रकार के संगीतों में मस्त होकर गाढान्धकारिणी अमावास्या की निशीथिनी में नृत्य कररहे हैं, इसी नाट्यशाला में सुप्रकाश से विभावित वास्तविक मनुष्य भी बैठेहुए हैं । इस तरह के संकीर्ण रंगभूमि के पात्रों का परिचय दाम्भिक तिर्छे कुटिल नरपशु कब समझ सकते हैं, प्रथम तो मनुष्यजातिमात्र का यह एक सामान्य धर्म है, कि किसी वस्तु को अनधिकार प्राप्त न ले, भारतवर्षीय धर्मशास्त्रों में तो व्यवहारदण्ड के अतिरिक्त इसको धर्मशास्त्रानुसार पतित होना भी समझा जाता है ।

इस पर महाभारतान्तर्गत शंख, लिखित का इतिहास देखने के योग्य है । शंख और लिखित ये दो भाई हुए, परस्पर दाय-विभाग होने के अनन्तर एक दिन लिखित अपने ज्येष्ठ भ्राता के आश्रम पर गया, शंख उस समय घरपर न था । लिखित को उसकी प्रतीक्षा में अधिक समय लगने से क्षुधा सताने लगी, इधर उधर देखता है समीप ही वाटिका थी वहां मृदु और मधुर फलों से वृक्ष ठसाठस भरेहुए थे, क्षुधा का वेग इसको सता ही रहा था जिसपर बाल्यावस्था की चञ्चल प्रकृति । बस यह विचार न सका कि इस जगे के फल लेने में मेरा अधिकार अब है या नहीं, निदान कुछ फल खाकर क्षुधा को शान्त किया कुछ रख दिए, इसी बीच शंख भी अपने आश्रम में पहुँचा । लिखित ने प्रेमपूर्वक अवशिष्ट स्वादु फल उसको अर्पण किए फलों को देख

शंख ने लिखित से पूछा प्रिय भ्रातः ! इन फलों को तुम कहा से लाये हो, उसने उत्तर दिया कि सामने जो आपकी वाटिका है उसमें से लाया हूं यह सुन शंख ने कहा भाई तुमसे इस प्रकार अनुचित कर्म की आशा नहीं थी यद्यपि मेरा जो है वह तुम्हारा है तुम्हारा जो है वह मेरा है, किन्तु जब हम परस्पर विभक्त होगए हैं अब विना स्वामी की अनुमति से जो फल तुमने लिए हैं यह अत्यन्त अधर्म किया है। इससे अब तुम प्रायश्चित्त के योग्य हो अतः आत्मशुद्धि के लिए राजा के पास जाकर निवेदन करो कि हे धर्मज्ञ ! मैंने चोरी की है आप मुझे उसका दण्ड देकर पवित्र करो जिससे दूसरे जन्म में फिर पाप का फल न भोगना पड़े, क्योंकि :—

"राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥"१

राजा ने जिस अपराधी को दण्ड देदिया हो वह शुद्ध होकर स्वर्ग में निवास करता है ॥ १ ॥

भाई के उपदेशानुसार लिखित सुद्युम्न राजा के पास गया और अपने कर्म को यथावत् निवेदन किया, राजा ने उत्तर दिया जो कुछ मेरे योग्य और सेवा हो उसे कहो, जो ऐसे सत्यवादी के साथ मुझे करना भी उचित है। लिखित एक न माना निदान धर्मशास्त्रीय निर्णयानुसार सुद्युम्न ने लिखित के दोनों

हाथ कटवा दिए लिखित इस परिपाक को पाकर अपने भाई के पास वापस आया और प्रणाम कर बोला भ्रातः "मैंने अपने दुष्कृत का फल पालिया इसलिए अब क्षमा कीजिए, शंख ने उत्तर दिया ब्राह्मण को चौर्य करने के अतिरिक्त और क्या पाप है तुमने धर्म का अतिक्रमण किया था इसलिए इसका प्रायश्चित्त ही यह है अब विपत्ति पर धैर्य रखना ब्राह्मण की पहिचान है। अच्छा तुम बाहुदा नदी के पास जाकर शान्त मन से भगवती बाहुदा का पूजन करके अपने अनुचित कर्म पर पश्चात्ताप करो और देवर्षियों के तर्पण कर यह कहना, हे भगवति ! अब इस प्रकार अनुचित कर्म मैं नहीं करूंगा क्षमा कीजिए भाई की आज्ञानुसार उसने वैसा ही किया, ज्यों ही जल में बाहु डाले त्यों ही उसके दोनों हाथ लग गये, आश्चर्य में आकर अपने भाई को हाथ दिखाने लगा और बोला हे धर्मज्ञ भ्रातः ! तुमने पहिले ही मुझे पवित्र क्यों न किया। शंख ने उत्तर दिया मेरा इतना ही काम था दण्ड देना राजा का ही अधिकार है इस धर्मयुक्त न्यायदण्ड देने से तुम और राजा दोनों पुण्य के भागी हैं राग द्वेष से जो राजा की दण्डनीति है वह राजा को नरक में डालनेवाली और वंशनाशकारी है। राग, द्वेष छोड़ कर न्यायनिष्ठावाली दण्डनीति राजा को स्वर्ग सोपान है।

मानवतत्त्वशिक्षा

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ १ ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ २ ॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥३॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।

ऋग्, यजु, साम, अथर्वण चारों वेद और वेदानुकूल स्मृति स्वभाव और आचार तथा सज्जनों के मन की प्रसन्नता ये सब धर्म के कारण हैं ॥ १ ॥

वेद तथा धर्मशास्त्र के कहे हुए धर्म का आचरण करता हुआ मनुष्य इस लोक में यश को और परलोक में अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

वेद को श्रुति और धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं, वे दोनों सम्पूर्ण प्रयोजनों में प्रतिकूल तर्कों से विचारने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि सब धर्म उन्हीं से प्रकाश हुए हैं ॥ ३ ॥

जो द्विज धर्ममूल श्रुति और स्मृति का अपमान करता है,

स शूद्रवद्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥४॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ ५॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ ६॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ ७॥

वह वेद की निन्दा करनेवाला नास्तिक शूद्र के समान वेदाध्ययनादि द्विजों के धर्म से पृथक् करने योग्य है ॥ ४ ॥

वेद, स्मृति और शुभाचरण और अपनी सन्तोषजनक वस्तु यह चार प्रकार का साक्षात् धर्म का लक्षण है ॥ ५ ॥

इस भारतवर्ष में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से पृथिवी में सम्पूर्ण मनुष्य अपने अपने चरित्रों को सीखें ॥ ६ ॥

वेद पढ़ने से और मद्यमांसादि वर्जित करने से, होम से, त्रैविद्य नामक व्रत से, ब्रह्मचर्यावस्था में देवर्षि पितृ तर्पणादि योग से, पुत्र पैदा करने से, ब्रह्मयज्ञ प्रभृति पांच महायज्ञों से, ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से यह शरीर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य किया जाता है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनों कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते ॥ ८ ॥
आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ ९ ॥
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १० ॥
न जातु कामकामानामुपभोगेन शाम्यति ।

ब्राह्मण सब काल में वेदाध्ययन के आरम्भ में तथा समाप्ति में ॐकार का उच्चारण करे, जिसके आदि में ॐकार नहीं उच्चारण किया जाता वह शनैः शनैः नष्ट हो जाता है और जिसके अन्त में नहीं किया जाता वह भी विस्मृति को प्राप्त होजाता है ॥ ८ ॥

श्रुति और स्मृति से कहा हुआ आचार परमधर्म है, आचारवान् मनुष्य सम्पूर्ण फल का भागी होता है ॥ ९ ॥

अति भोजन आरोग्यता और आयु को नाश करनेवाला है, और स्वर्ग के कारणभूत यज्ञादिकों का विरोधी होने से स्वर्ग का भी नाश करनेवाला है, पापरूप है और लोक में निन्दित है । इससे अति भोजन का त्याग करे (अर्थात् बहुत कभी न खावे) ॥ १० ॥

अभिलाषा का वेग स्रक्, चन्दन तथा कामिनी आदि के उपभोग

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ ११ ॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् १२
श्रुत्वा दृष्ट्वा च स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा तु यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥ १३॥
इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरते प्रज्ञाद्दते पात्रमिवोदकम् ॥ १४ ॥

से कभी भी शांत नहीं होता है, घृतादि देने से अग्नि जैसा अधिक अधिक बढ़ता जाता है ॥ ११ ॥

वेद, दान, यज्ञ, नियम, तप आदि कर्म विषयों को सेवन करने वाले पुरुष को कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते ॥ १२ ॥

सुनकर, देखकर, स्पर्श कर, खायकर, सूंघकर जो मनुष्य प्रसन्न नहीं होता है और खेदित भी नहीं होता है उसको जितेन्द्रिय जानना चाहिए ॥ १३ ॥

सब इन्द्रियों में जो एक इन्द्रिय भी विषयों में लिप्त होजाय तो विषयों में लगे हुए इस मनुष्य के दूसरी इन्द्रियों से भी तत्त्व-ज्ञान ऐसे जाता रहता है जैसे चर्म के जलपात्र से जल टपकता जाता है ॥ १४ ॥

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ १५ ॥
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिः कार्यः सर्वस्मिन् द्विजकर्मणि ॥ १६ ॥
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि च मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ १७ ॥
उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।

इन्द्रियसमूह को वश में करके और मन को संयम कर अपनी देह को पीड़ा न देता हुआ सम्पूर्ण अर्थों को भली भांति साधन करे ॥ १५ ॥

जो प्रातःकाल की सन्ध्या नहीं करता और पिछली अर्थात् सायं सन्ध्या भी नहीं करता है, वह शूद्र के समान सब द्विजातियों के कर्म और सत्कार से बाहर करने योग्य है ॥ १६ ॥

विना पूछे किसी से भी न कहे और भक्ति, श्रद्धा आदि जो पूछने के धर्म हैं उनको छोड़कर जो पूछे ऐसे के पूछने पर या अन्याय से पूछने पर भी न कहे बुद्धिमान् पुरुष जानता हुआ भी अनर्थ कहने में गूंगे के समान रहे ॥ १७ ॥

दश उपाध्यायों की अपेक्षा एक आचार्य और शत आचार्यों

सहस्रेण पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १८ ॥
उत्पादकब्रह्मदात्रे गरीयाम् ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्म जन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १६ ॥
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मनः ॥ २० ॥
अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता २१॥

की अपेक्षा एक पिता और पिता से सहस्र गुण अधिक माता पूज्य है ॥ १८ ॥

उत्पन्न करनेवाला और वेद पढ़ानेवाला ये दोनों पिता हैं उनमें आचार्य पिता से श्रेष्ठ हैं क्योंकि ब्राह्मण का ब्रह्मजन्म ही इस लोक तथा परलोक में सदा मोक्षरूप फल का देनेवाला होता है ॥ १६ ॥

ब्राह्मणों की ज्ञान से ज्येष्ठता होती है, और क्षत्रियों की बल से, और वैश्यों की धन धान्य से, और शूद्रों की जन्म से श्रेष्ठता होती है ॥ २० ॥

शिष्यों को हिंसा के विना ही कल्याण देनेवाले अर्थ की शिक्षा करनी चाहिए और धर्मबुद्धि की इच्छा करनेवाले पुरुष को प्रीति उत्पन्न करनेवाली वाणी (शब्द) कहनी चाहिए ॥२१॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयम्॥२२॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोवधीत्॥२३॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥ २४ ॥

जो द्विज वेद को न पढ़कर और शास्त्रों में श्रम करता है वह जीता हुआ पुत्र पौत्रादिकों के समेत शीघ्र शूद्रत्व को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

अतिक्रमण किया हुआ अर्थात् न माना हुआ धर्म ही इष्ट, अनिष्ट समेत नाश कर देता है, और वह धर्म पालन किया हुआ इष्ट अनिष्टों समेत रक्षा करता है तिससे धर्म का अतिक्रमण न करना चाहिए अतिक्रमण किया धर्म तुम समेत हम को न मारे ॥ २३ ॥

धर्म ही एक मित्र है जो मरने के समय भी वाञ्छित फल देने के लिये साथ जाता है और सब स्त्री, पुत्र आदि शरीर ही के साथ नाश को प्राप्त होते हैं तिस से पुत्र आदिकों के स्नेह की अपेक्षा से भी धर्म न छोड़ना चाहिये ॥ २४ ॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षि लोकान्नाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ २५ ॥
जन्मप्रभृति यत्किंचित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम् ।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद् यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा॥२६॥
सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ २७ ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ २८ ॥

साक्षी सत्य कहता हुआ उत्तम लोकों को प्राप्त होता है और इस लोक में भी उत्तम यश को प्राप्त होता है यह वाणी ब्रह्मा से प्रशंसित है ॥ २५ ॥

न्यायाधिकारी साक्षी को कहे हे भद्र ! जो तुम मिथ्या कहोगे तो जन्म से लेकर जो तुमने पुण्य किये हों वह सम्पूर्ण कुत्तों को प्राप्त हों अतः पूछने पर कभी असत्य न कहे ॥ २६ ॥

सर्वदा सत्य और मीठी वाणी कहे, जो वाणी अप्रिय लगे वह सत्य भी हो तो भी न कहे और मिथ्या वाणी प्रिय भी हो तो भी न कहे, यह नित्य धर्म है ॥ २७ ॥

आचार से आयु बढ़ती है, आचार ही से चाही हुई सन्तति प्राप्त होती है, आचार ही से नाश न होनेवाले (नित्य) धन की प्राप्ति होती है, आचार ही निन्दित लक्षणों को दूर करता है ॥२८॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ २९ ॥
नास्तिक्यं वेदनिन्दा च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषो दम्भश्च मानञ्च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥३०॥
यमान् * सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।
यमान्पतत्य कुर्वाणः केवलान्नियमान्भजन् ॥३१॥
वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।

सम्पूर्ण दुःख पराधीन होने पर हैं और सम्पूर्ण सुख स्वाधीन होने से हैं संक्षेप से सुख दुःख के इन लक्षणों को जानो ॥ २९ ॥

नास्तिकता अर्थात् (परलोक नहीं है ऐसी बुद्धि को) वेद की निन्दा को तथा देवताओं की निन्दा, द्वेष, दम्भ, अहंकार, क्रोध और क्रूरकर्म को छोड़ देवे ॥ ३० ॥

इन्द्रियों के दमन को यम कहते हैं बुद्धिमान् नित्य यम का सेवन करे, यमों के विना नियमों का सेवन न करे । केवल नियमों का सेवन करता हुआ और यमों पर ध्यान न देता हुआ नरकगामी होता है ॥ ३१ ॥

निरन्तर वेद पढ़ने से, शौचाचार से, तपस्या से, प्राणियों की

* अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये यम हैं । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं ।

अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्वकीम्॥३२॥
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ३३ ॥
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३४ ॥
ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः ।
महन्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥३५॥

हिंसा न करने से पूर्व जन्म की जाति को जान लेता है ॥ ३२ ॥

राजा बालक भी हो तो भी पूज्य है यह मनुष्य ही तो है, इस तरह समझकर उसका अपमान न करे, क्योंकि यह दिव्य शरीर मनुष्यरूप से भूलोक में टिकता है ॥ ३३ ॥

वेदों में अभ्यास न करने से, और श्रुति स्मृतियों में कहे हुए आचार को न करने से, आलस्य से, और कुत्सित तथा बहुत अन्न खाने से, अकाल मृत्यु ब्राह्मणों को मारता है ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणवध, मद्यपान, चोरी, गुरुस्त्रीगमन इन को महापातक कहते हैं और जो महापातकियों से संसर्ग * रखता है वह भी महापातकी गिना जाता है ॥ ३५ ॥

---

* संसर्ग देखो ३८ श्लोक में ।

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ॥३६॥
छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनञ्चैव मत्या जग्ध्वा पतेन्नरः ॥३७॥
संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्नतु यानासनाशनात् ॥३८॥
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।

लशुन, गृंजन (गाजर) प्याज, धरती के फूल (छत्राक) और अशुद्ध विष्ठा आदि अपवित्र स्थान में उत्पन्न हुए शाकादि ये द्विजातियों को अभक्ष्य हैं शूद्रों को नहीं ॥ ३६ ॥

धरती का फूल, विष्ठा खानेवाला सूअर, लशुन, ग्राम का मुर्गा, प्याज, गाजर इनमें किसी को जानकर खावे तो द्विजाति पतित होवे और पीछे उस पतित को प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥ ३७ ॥

यज्ञ से, पढ़ाने से और विवाहसम्बन्ध से मनुष्य पतितों के साथ एक संवत्सरपर्यन्त आचरण करता हुआ पतित होता है, पतित के साथ मार्गगमन करने से, बैठने से और साथ भोजन करने से पतित नहीं होता ॥ ३८ ॥

दूसरे के द्रव्य लेने में ध्यान देना, और मन से अनिष्ट वस्तु का चिन्तन करना, और परलोक नहीं है देह ही आत्मा है,

वितथा विनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥३६॥
पारुष्यमनृतश्चैव पैशून्यश्चापि सर्वशः ।
असम्बन्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥४०॥
अदत्तानामुपादानं हिंसाचैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ४१ ॥
मानसं मानसैवायमुपभुंक्ते शुभाशुभम् ।
वाचावाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥४२॥

इस भांति तीन प्रकार का अशुभ फल मानस कहाता है ॥ ३६ ॥

कठोर वाणी का कहना, झूठ बोलना, पीछे पराये दोषों का कहना और राजा, देश, पुरवासियों की वार्ता आदि का बिना प्रयोजन उच्चावच वर्णन करना इस प्रकार चार तरह का अशुभ वाचिक कर्म होता है ॥ ४० ॥

अन्याय से दिए हुए द्रव्य को लेना, वेदादि शास्त्रों से निषिद्ध हिंसा का करना और पराई स्त्री से सम्भोग करना ये अशुभ फल देनेवाले तीन प्रकार के शारीरिक कर्म हैं ॥ ४१ ॥

मन करके जो सुकृत अथवा दुष्कृत कर्म किया हो उसका फल सुख दुःखरूप इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में मन से ही भोगता है । ऐसे ही वाणी से किया शुभ अशुभ वाणी के द्वारा मधुर गद्गद आदि बोलने से और शरीरसम्बन्धी शुभ अशुभ शरीर द्वारा भोगता है ॥ ४२ ॥

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥४३॥
वाग्दंडोथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रीदण्डीति स उच्यते ॥४४॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥४५॥
यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जते ।

शरीर से उत्पन्न हुए बहुत दोषों (पापों) से मनुष्य वृक्षादिकों की योनि में उत्पन्न होता है। वाचिक दोषों से पक्षि, मृगों की योनि में और मानसिक दोषों से चाण्डाल की योनि में पैदा होता है ॥ ४३ ॥

वाणी का दण्ड, मन का दण्ड, कायदण्ड यह तीनों दण्ड जिसकी बुद्धि में स्थित हैं वह त्रिदण्डी कहा जाता है केवल काष्ठ के तीनों दण्डों के धारण करने से त्रिदण्डी नहीं होता है ॥ ४४ ॥

वेदों में अभ्यास, और प्राजापत्य आदि व्रत करना, शास्त्र के अर्थ का ज्ञान, मिट्टी, जल आदि से शुद्धि, इन्द्रियों का रोकना, दान आदि धर्मों का करना, आत्मा के ध्यान में तत्पर होना यह सत्त्व नाम गुण के कार्य हैं ॥ ४५ ॥

जिस कर्म को करके और करता हुआ तथा आगे करने की

तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ४६ ॥
येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।
न शोचयत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयन्तु राजसम् ॥ ४७ ॥
यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जाति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥४८॥
अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ४९ ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।

इच्छा रखने से लज्जित होवे तो वह सब तामस कार्य हैं ॥ ४६ ॥

केवल इस लोक में ही जिस कार्य से बड़ी ख्याति को प्राप्त करने की इच्छा हो और उस काम के फल के न होने पर भी नहीं शोचता हो, वह रजोगुण का कार्य जानना ॥ ४७ ॥

जिस कर्म से सब प्रकार वेद के अर्थ को जानने की इच्छा करता है, और जिस कर्म को करता हुआ तीनों काल में भी लज्जित नहीं होता है, और जिससे इसके आत्मा को सन्तोष हो, वह सत्त्वगुण का लक्षण जानना चाहिए ॥ ४८ ॥

राजा के विना जगत् को भय से चलायमान देख ईश्वर ने इस जगत् की रक्षा के लिए राजा को उत्पन्न किया है ॥ ४९ ॥

इन्द्र, पवन, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुबेर इन सबों

चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती॥५०॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५१ ॥

के सारभूत अंशों को खींचकर प्रभु ने राजा को बनाया है ॥५०॥

जिससे इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओं के अंश से राजा उत्पन्न किया गया है, अतः राजा सब प्राणियों में पराक्रम से अधिक होता है ॥ ५१ ॥

च्यवनोपाख्यानम् ।

निर्गुणेस्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥१॥

कुलीन सज्जन साधु महापुरुषों का यह स्वभाव है कि दूसरे को दुःखितदशा में देखकर स्वयं भी तबतक दुःखित हो जाते हैं जबतक उसके सन्ताप को दूर न करें, या कुछ अंश से समवेदन न करें ॥ १ ॥

यह भी महापुरुष का लक्षण है कि दूसरे की दुःखिनी दशा पर हृदय से सहायता करनी, जिन का यह स्वभाव होता है प्रायः उनको दुःख दौर्मनस्यरूपी अनिष्ट दशा नहीं भोगनी पड़ती, दूसरे की दुःखित अवस्था पर हँसना, मुख से चापलूसी, हृदय में हलाहल इस प्रकार के नरदानव कब इस सूक्ष्म विज्ञान को समझ सकते हैं, मोक्षशास्त्र में धर्माधर्म इन्द्र के आख्यान में "ददद" यही सम्पूर्ण धर्म की प्रसव भूमि बताई गई, अर्थात् पहली द का अर्थ इन्द्रियों का दमन, दूसरी द का अर्थ दया, तीसरी द का अर्थ दान यही धर्मस्कन्ध यहां दिखाये हैं। दया और सहानुभूति ही मनुष्य का विमल यश है और परम धर्म है, दूसरों को दुःखित अवस्था में देख सज्जनों का स्वभावतः चित्त दुःखित होता है और दुःखित प्राणियों की सहायता करने में वह निरंतर लग जाते हैं दया सत्त्वगुण से उत्पन्न होती है जैसे जैसे मनुष्य दयामय होता जाता है वैसे वैसे उसका

मानसिक बल बढ़ता जाता है और सत्वनिष्ठ के होने से पारलौकिक आनन्द के अतिरिक्त इस जीवनी में उसके अंतःकरण की शक्ति प्रबल हो जाती है, जिस प्रकार सूर्य की रश्मियां पृथिवी से रस आकर्षण करने में और प्रकाश में बलवती होती हैं इसी प्रकार वह भी उन सात्विकी शक्तियों के द्वारा सत्वगुण को अपने में समाकर्षण करता है जिससे सदैश्वर्य दीर्घजीवनी उसमें होती है, महर्षि लोग इसी तरह अपनी सात्विकी शान्त शक्तियों को संस्कृत तथा संवर्धन करके निजसत्ता के द्वारा जगत् से भी वैसी वैसी शक्तियों का आकर्षण करते थे जिससे मानसिक सत्ता उनमें दृढ़ हो जाती थी । अभी जिस वंश का विभव जगत् में स्थिर है या स्थिर हो रहा है उनकी जीवनी को देखिए उस कुटुम्ब के आबाल वृद्ध में दया और सहानुभूति करने का असाधारण गुण होगा जिसके द्वारा वे जगत् से उन शक्तियों का आकर्षण कर अपने असीम अभ्युदय को प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रस्ताव पर महर्षि च्यवन की, पुण्यरूपिणी जीवनी है जिन्होंने मत्स्यों को अपने आश्रम पर जालबद्ध देख और इधर धीवरों को विभुक्षितदशापन्न देख कर अपने शरीर को ही मछलियों के छुड़ाने के लिये दे दिया जिससे इधर धीवर उस मूल्य को लेकर अपना निर्वाह कर लें, और वे दीन मत्स्य भी मुक्तवन्धन होकर स्वछन्द जल में विहार करें, फलतः दोनों का कष्ट दूर होजाय ।

महर्षि च्यवन जो कि काम, क्रोध दम्भाभिमानादि आसुरीय

सम्प्रदाय के मलों को शुद्धकर शान्त और शिवसंकल्पमय मन स गंगा, यमुना के मध्य में आसन बांधकर तपस्या कर रहे थे। एक समय कुछ बुभुक्षित, दीन धीवर अपने कुटुम्ब की आजीविकार्थ मत्स्य पकड़ने को जाल ले उस स्थान पर आये। जैसे ही उन्हों ने जल में जाल डाला कि कुछ मत्स्यों के साथ च्यवन भी उसमें जकड़ गये जिससे जाल भारी होगया, यथा तथा जल से ऊपर उन्हों ने जाल को खींचा तो क्या देखते हैं कि मत्स्यों के साथ सिद्धासन बांधे हुए समाधिस्थ एक तपोमूर्ति भी उसमें आगई।

महात्मा को देख धीवर भयभीत हुए, नम्रता के साथ प्रणाम कर उन्हों ने प्रार्थना की हे प्रभो ! हमारे अपराध को क्षमा कीजिए और जो कुछ आप आज्ञा करें हम उस सेवा करने को उपस्थित हैं हमने अज्ञानता से जो पाप किये हैं उन पर क्षमा कीजिए। तपस्विन् ! आज्ञा दीजिए जिस कर्म के करने से आप प्रसन्न हों धीवरों की ऐसी प्रार्थना सुन कर और मछलियों की दशा देख कर ऋषि बोले, प्यारे चाहे इन मत्स्यों के साथ बिक जाऊं या जीवनी को शान्त कर दूं किन्तु निरपराधिनी इन मछलियों का साथ नहीं छोड़ सकता क्योंकि दुःखित प्राणियों को देख कर जो स्वयं दुःखी नहीं होता और केवल अपने ही सुख की इच्छा करता है उससे बढ़ कर कौन पापी है अहो आश्चर्य है आत्मज्ञाननिष्ठ, तपस्वी लोग भी अपने ही कल्याण के लिये

तत्पर रहें और दुःखियों की दशा देख कर उन के दुःख दूर करने की चेष्टा न करते हों तो क्या वह तपस्या है, नहीं व्यर्थ है । हाय ! शक्तिमान् होकर भी दीन दुःखियों को सहानुभूति न करे तो पशु और मनुष्य की जीवनी में अन्तर ही क्या रहा, पुत्र, दारा का प्रेम तो पशुओं का भी स्वार्थवश तथा अविवेक से होता ही है ।

ज्ञानिनोऽपि यदा स्वार्थं निश्चिन्त्य ध्यानमाश्रिताः ।
सत्त्वाः संसारदुःखार्ताः कं यान्ति शरणं तदा ॥२॥

ज्ञानी लोग भी यदि स्वार्थपरायण होकर केवल ध्यानावस्थित हो जायँ और दुःखियों की दशा पर विचार न करें तो दुःखी फिर किस की शरण जायँ ॥ २ ॥

इतना कहकर पुनः ऋषि बोले कौन ऐसा उपाय होगा जिससे इन दुःखित मछलियों की सहायता के लिये दुःख उठाऊं हाय ? कोई विना जलके तड़फ तड़फ कर जमीन में गिरती हैं कोई सूर्य की प्रखर रश्मियों से सन्तप्त होकर तड़फड़ा कर आत्मोत्सर्ग कर रही हैं कोई दीर्घ निश्वास से असह्य वेदना दिखा रही हैं, इस प्रकार मछलियों की दुःखित दशा देख कर पुनः करुणामय हो बोलने लगे :—

दृष्ट्वान्धबधिरान् व्यङ्गाननाथान् रोगिणांस्तथा ।
दया न जायते येषां ते शोच्याः मूढचेतनाः ॥३॥

प्राणसंशयमात्मानं यो न रक्षति शक्तिमान् ।
सर्वधर्मबहिर्भूतः स पापां गतिमाप्नुयात् ॥ ४ ॥

अंधे, बधिर, अंगहीन, अनाथ, रोगियों की दशा देख कर जिन को दया नहीं आती है वे मनुष्यगणना में नहीं हैं ॥ ३ ॥

जो शक्तिमान् होकर भी सन्देहावस्था में गिरे हुए प्राणियों की रक्षा नहीं करता वह पापी धर्मच्युत है ॥ ४ ॥ दुःखियों के दुःख छुटाने से जो आनन्द होता है उस सुख के स्वर्ग अपवर्ग भी सोलहवीं कला को नहीं पहुँच सकते इसलिये इन दीन दुःखी मछलियों को छोड़ कर मैं ब्रह्मपद को भी नहीं जाना चाहता हूं फिर स्वर्ग तो क्या है इधर तुम्हारी भी आशा भंग नहीं करना चाहता हूं क्योंकि तुम्हारी यही आजीविका है । अतः तुम राजा के पास जाकर निवेदन करो कि राजा मुझे मूल्य देकर लेलेवें उस मूल्य को तुम ले लेना और इन मछलियों को जल में छोड़ देना अन्यथा तुम को पाप होगा, धीवर ऋषि की आज्ञा से राजा नहुष के पास गये राजा सम्पूर्ण वृत्तांत सुन कर आश्चर्ययुक्त हुआ और इस तरह अद्भुत मूर्ति जानकर स्वयं ऋषि के दर्शनार्थ उस स्थान पर गया जहां वह महात्मा ध्यानावस्थित रहते थे तपोबल के प्रभाव से देदीप्यमान कान्तिमय शरीरवाले एकाग्र ध्याननिष्ठ महात्मा को नम्रता से राजा ने प्रणाम कर सविनय कहा प्रभो ! धन्य आज के पुण्यमय दिन को आज्ञा कीजिए जो मेरे

योग्य सेवा हो यह सुन ऋषि बोले " हे राजसत्तम ! ये धीवर जो बड़े दुःख से अपना आजीवन करते हैं इनके इस समय के परिश्रम पर आप मेरा मूल्य इन को देकर मुझ को खरीद लीजिए, यदि आप मूल्यदान से मुझे न लोगे तो मे अपने प्राण इन को अर्पण कर दूंगा क्योंकि मैंने निश्चय कर लिया है कि अपने आप को विक्रय कर वह मूल्य इन को प्रदान कर इन दीन मछलियों की प्राणरक्षा की जाय " ऋषि के ऐसे वचन सुन राजा ने कोशाध्यक्ष को आज्ञा दी एक लक्ष रुपया धीवरों को महात्मा की आज्ञा से अभी दिया जाय, यह सुन महर्षि च्यवन बोले राजन् ! एक लक्ष में किस रीति से तुम ने मुझे लिया है राजाओं के मन्त्री अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं उन के साथ परामर्श कर उचित मूल्य दीजिये पुनः राजा ने उत्तर दिया एक करोड़ मुद्रा धीवरों को दिया जाय, यदि न्यून हो तो और अधिक दो, जिससे पूज्य महर्षि प्रसन्न हों । यह सुन ऋषि पुनः बोले, अपना मूल्य आप कहना उचित नहीं है । आप निर्णय कर मूल्य दो, राजा महर्षि के उपदेशानुसार दुःखियों की सहानुभूति पर राज्य तक देने को उद्यत था किन्तु महर्षि उचित मूल्य दो यही कहते थे । तब राजपुरोहित, मन्त्री बैठ कर मन्त्रणा करने लगे यदि ऋषि क्रुद्धित हो जायगा तो त्रैलोक्य को भस्म कर सकता है, फिर तपोबलरहित हमारी क्या कथा है । राजपुरोहित और मन्त्री सम्पूर्ण शास्त्र के वेत्ता, कुलीन, सत्य-

वादी होते थे, मूर्ख पुरोहित और अज्ञ, अल्पज्ञ मन्त्री भी पूर्व-काल में श्रेयस्कर नहीं समझे जाते थे। इतने में गविजात ऋषि (जो वहां आये हुए थे) ने कहा ब्राह्मण जगत्पूज्य होने के कारण उनका कोई मूल्य नहीं कर सकता है, और ब्राह्मणों की परम देवता गो है, इसलिए गोमूल्य देने से ऋषि को प्रसन्न कीजिए। इस प्रकार गविजात ऋषि के वाक्य सुन राजा बोला, हे विप्रर्षे ! उठो उठो गोमूल्य देने से तुम को ले लिया है, हे धर्मज्ञ ! गोमूल्य से श्रेष्ठ और तुम्हारा मूल्य पृथ्वी में नहीं समझता हूं। यह सुन ऋषि सहर्ष बोले, हे धर्मात्मन् ! उठगया हूं सत्य ही गो से श्रेष्ठ कुछ धन संसार में नहीं है, गो का पूजन, कीर्तन, श्रवण, दर्शन पापराशि को दूर करनेवाला और पुण्यों को देनेवाला है, गो लक्ष्मीस्वरूप है और निष्पाप है, इसलिए गो को यज्ञ का मुख कहा है, गो मनुष्य को नित्य अमृत का और देवताओं के लिए हव्य को देती है, गो अमृत का आयतन है, अतः संसार में पूजनीय है, गो अपने तेजस्वी शरीर से अग्नि के समान है, गो संसार में प्राणियों को सुख देने वाली है, गो के स्वास प्रस्वास से वायु शुद्ध होती है, जिस देश में गो रहती है वह देश नित्य निर्भय, पवित्र रहता है, अतः शास्त्र में गो स्वर्ग-सुख के प्राप्त करनेवाली कही है, और स्वर्ग में पूज्य है। अत: गो से उत्तम संसार में कोई धन नहीं, धीवरों ने भी गो का माहात्म्य सुनकर कहा:—

"संभाषा दर्शनं स्पर्शः कीर्तनं स्मरणं तथा।
पावनानि किलैतानि साधूनामिति शुश्रुमः"॥५॥

सज्जनों से संभाषण करना, उनका दर्शन, उनके साथ प्रेम से मिलना, उनकी प्रशंसा करना यह पुण्य के देनेवाले हैं ॥ ५ ॥

धीवर बोले, हे महात्मन्! हमने आपका स्पर्श, दर्शन किया है, उससे हमारे पाप दूर होगए, अब यह गो हम आपको अर्पण करते हैं, स्वीकार कीजिए। ऋषि ने प्रसन्नता से उनकी दी हुई गो ग्रहण कर कहा जो कुछ मैंने पुण्य किये हैं, उनसे सब जल-जन्तु जिनके साथ मैंने तपस्या की, वे स्वर्ग को चले जावें। ऋषि के प्रसन्नचित्त से जो आशीर्वाद निकले उनके प्रभाव से वे धीवर मछलियों के साथ स्वर्ग को पहुँच गए और धर्म में तत्पर हुए:—

"साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलति तीर्थं सद्यः साधुसमागमः" ॥ ६ ॥

सज्जनों का दर्शन पुण्यदायी है, अतः सज्जन तीर्थस्वरूप हैं, तीर्थफल तो कालान्तर में प्राप्त होता है और सज्जनों के दर्शन का फल तत्काल ही प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् गविजात ऋषि तथा तपस्वी च्यवन ने राजा से कहा, हे राजसत्तम! वर मांगो जो तुम चाहते हो, राजा बोला, हे महर्षे! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे ऐसा वर दो जिससे मेरी

बुद्धि धर्म में लगी रहे, क्योंकि धर्म से अधिक मनुष्य को सहायता देनेवाला और कोई नहीं है । ऋषि ने यह आशीर्वाद दिया, हे राजन्! तुम्हारी बुद्धि धर्म में तत्पर रहे, संसार में सर्वोत्तम रत्न धर्म ही है; वह नित्य तुम्हारे साथ रहे ।

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां सह्येक एव परलोकगते सुबन्धुः । अर्थाश्रियैश्च निपुणैरपि सेव्यमानो नैवासभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥७॥

तब से राजा को धर्म में ऐसी निष्ठा हुई कि एक दिन अपनी राजमहिषी को इस प्रकार धर्म का उपदेश करने लगे ॥ ७ ॥

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरिपतन्त्वथवा कृपाणधारा । अपहरतु शिरः कृतान्तो मम तु मतिर्न मनागपेतु धर्मात् ॥ ८ ॥

नारकीय गति

पहले शिक्षास्तवक में इस बात को दिखला चुके हैं कि मनुष्य-देह में सञ्चित किये शुभाशुभ कर्मों के परिपाक से तिर्यगादि योनि भोगनी पड़ती है, मनुष्य नरकयोनि में किन किन कर्मों से जाता है उनसे बचने के लिये नीचे दर्शाते हैं :—

ब्राह्मण्यं पुण्यमुत्सृज्य ये द्विजा लोभमोहिताः।
कुकर्माण्यपि कुर्वन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ १ ॥
परुषाः पिशुनश्चैव मानिनोऽनृतवादिनः।
अनिबद्धप्रलापाश्च नराः निरयगामिनः ॥ २ ॥
ये परस्वापहर्तारस्तद्गुणानामसूयकाः।
परश्रियाभितप्यन्ते ते वै निरयगामिनः ॥ ३ ॥
कूपानां च तडागानां प्रपानाञ्च परन्तप।

जो ब्राह्मण लोभ, मोह से ब्रह्मण्य कर्म को छोड़कर दुष्कर्म में लग जाते हैं वे नरकगामी होते हैं ॥ १ ॥

कठोरवाणी कहनेवाले, कुटिल स्वभाव, असत्यवादी, दम्भी, अश्लील वचन कहनेवाले मनुष्य नरकगामी होते हैं ॥ २ ॥

दूसरे के धन लेनेवाले, दूसरे के गुणों पर दूषण लगानेवाले, दूसरों के ऐश्वर्य से जलनेवाले नरकगामी होते हैं ॥ ३ ॥

रथ्यानां चैव भेत्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥४॥
प्राणिनां प्राणहिंसायां ये नराः निरताः सदा ।
प्रव्रज्या वसिताः ये च ते वै निरयगामिनः ॥ ५ ॥
यतीनां दूषका राजन् सतीनां दूषकास्तथा ।
वेदानां दूषकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ६ ॥
आद्यं पुरुषमीशानं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
न चिन्तयन्ति ये विष्णुं ते वै निरयगामिनः ॥७॥
ब्राह्मणानां गवानाञ्च कन्यानां सुहृदांस्तथा ।
येऽन्तरा यान्ति कार्येषु ते वै निरयगामिनः ॥ ८ ॥

कूप, तालाब, बावड़ी आदि जल के स्थानों तथा मार्ग के तोड़नेवाले नरकगामी होते हैं ॥ ४ ॥

नित्य प्राणियों की हिंसा में जो तत्पर रहते हैं, संन्यासी होकर गृहस्थी सेवन करनेवाले नरकगामी होते हैं ॥ ५ ॥

यतियों पर दोष देनेवाले, पतिव्रता स्त्रियों पर दूषण लगाने वाले, वेदों की निन्दा करनेवाले नरकगामी होते हैं ॥ ६ ॥

जो लोग संसार के विषयों में लगकर देवाधिदेव परमेश्वर को स्मरण नहीं करते वे नरकगामी होते हैं ॥ ७ ॥

ब्राह्मण, गो, कन्या, मित्र इनके लिए जो विघ्न करते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥ ८ ॥

काष्ठैर्वा शङ्कुभिर्वापि कण्टकैरुपलैस्तथा ।
पन्थानं येऽवरुन्धन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ९ ॥
सर्वभूतेषु निस्वस्थाः सर्वभूतेषु निर्दयाः ।
सर्वभूतेषु जिम्भाश्च ते वै निरयगामिनः ॥ १०॥

जो मनुष्य लकड़ी, कील, कांटे आदि से मार्ग को रोकते हैं वे मनुष्य नरकगामी होते हैं ॥ ९ ॥

जो सब प्राणियों पर प्रमादी, निर्दयी, कपटी होते हैं वे नरकगामी होते हैं ॥ १० ॥

स्वर्गीय गति।

सत्येन तपसा क्षान्त्या दानेनाध्ययनेन च ।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १ ॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषां ये कुर्वन्ति सदादृताः ।
वर्जयन्ति दिवा स्वापं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२॥

जो मनुष्य सत्य से, तप से, क्षमा से, दान से, अध्ययन से धर्म का पालन करते हैं वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ १ ॥

नित्य आदरपूर्वक माता, पिता की शुश्रूषा करनेवाले और दिन में शयन न करनेवाले मनुष्य स्वर्गीय होते हैं ॥ २ ॥

सर्वहिंसानिवृत्ताश्च नित्यं सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३ ॥
भयार्तांश्च सशोकांश्च दरिद्रान् व्याधिकर्शितान् ।
विमोचयन्ति ये जन्तून् ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ४॥
शुश्रूषाभिस्तपोभिश्च श्रुतमादाय नारद ।
ये प्रतिग्रहनिस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ५ ॥

"स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे । दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणञ्च"॥ ६ ॥

सम्पूर्ण जीवों के अपकार से बचे हुए, नित्य सबको सहायता देनेवाले, सबके आश्रय के योग्य मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३ ॥

भयार्त, शोकार्त, दरिद्री, रोगी इनको दुःख से बचानेवाले स्वर्गगामी होते हैं ॥ ४ ॥

गुरु की सेवा से तथा तपस्या से जिन्होंने शास्त्र पढ़ा है वे यदि दान लेने से विरक्त हों तो स्वर्गगामी होते हैं ॥ ५ ॥

स्वर्गीय पुरुषों के चार चिह्न होते हैं, दान में प्रीति, मधुर वाणी, देवता, ब्राह्मणों का सत्कार करना ॥ ६ ॥ परिवर्तमान चैतन्य सृष्टि में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं, एक आसुरीयसम्प्रदाय के, दूसरे दैवीसम्प्रदाय के। आसुरीसम्प्रदाय के यहां कर्म फलों को

भोग नरकगामी होते हैं, और दैवीसम्प्रदाय के स्वर्गगामी । अतः अपने अभ्युदयाकांक्षियों को सदैव आसुरीसम्प्रदाय के मनुष्यों से बचना चाहिए, दैवीसम्प्रदायवालों से प्रेम, मैत्री उत्पन्न और संवर्धन करनी चाहिए ।

आसुरीय सम्पत्ति ।

दम्भो दर्पोभिमानश्च क्रोधपारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ १ ॥
असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ २ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणो क्षयाय जगतोहिता ॥ ३ ॥
काममाश्रित्यदुष्पूरं दम्भलोभमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वा सद्ग्राहान्प्रवर्तन्ते शुचिव्रताः ॥४॥
चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तमुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ५ ॥
आशापाशशतैर्बद्धा कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयम् ॥ ६ ॥

इदमद्यमया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमयि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ ७ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोहमहं भोगी सिद्धोहं बलवान् सुखी ॥ ८ ॥

आसुरीय सम्पत्तिवाले कहते हैं यह जगत् असत्य है जगदाधार ईश्वर कोई नहीं, वह अज्ञानी नास्तिक जगत् को विनाश करनेवाले होते हैं, उनकी विषयकामना इतनी दीर्घ होती है कि जिसकी समाप्ति नहीं होसकती । वह मरणपर्यन्त दूसरों को दुःख देने की चिन्ता में लगे रहते हैं, निरन्तर आशापाश में बँध कर अन्याय से द्रव्योपार्जन करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं और परस्पर यह कहकर प्रसन्न होते हैं कि मैंने अमुक व्यक्ति को धोखा दे दिया, अमुक शत्रु का मैंने अपकार करलिया है, और दो तीन और हैं जिन के अपकार के लिये मैं प्रयत्न कर रहा हूं । मैं धनी हूं, मैं भोगी हूं, मेरे बहुत सम्बन्धी हैं, मेरे समान दूसरा कौन शक्तिमान् है । वह रात दिन इस तरह के अनेक प्रलाप करते जाते हैं ॥ १-८ ॥

दैवी सम्पत्ति ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानमार्गे व्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वमार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

दैवीसम्पत्ति के पुरुष कभी कोई अनुचित कर्म नहीं करते हैं, इस कारण वह दैवीसम्प्रदाय के मनुष्य नित्य निर्भय रहते हैं। और अन्तःकरण सिद्धि, ज्ञान में स्थिति, दान में प्रीति दमन में आसक्ति, यज्ञ में रुचि, स्वाध्याय में रति निरन्तर बनी रहती है। और अहिंसा, सत्य, त्याग, शान्ति, अक्षुद्रता, प्राणियों में दया, निर्लोभता, निर्द्रोह, धैर्य, मृदुस्वभाव, पवित्रतादि गुणों से उज्ज्वल रहते हैं। उनका कथन है :—

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः ।
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् ॥

कोई आश्रम ही नित्य धर्म का कारण नहीं, क्योंकि वह क्रियमाण है, अतः जो अपने को बुरा हो वह व्यवहार अन्यों से

भी न करना । जो अपने को प्रिय हो वह दूसरों को भी हित-
कारी समझना ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरापदाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

इति शम् ।